गीता-उपदेश
मासिक
सत्संग भवन
अम्बाला नगर-7

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय !

इस अङ्क में पढ़िये—

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. 'गीता-उपदेश'—नव वर्षमें प्रवेश		......३
२. गीता-वचनामृत		......६
३. गीता-भजनावली	......स्वामी श्रीगीतानन्दजी	......७
४. गीता-प्रवचन	......स्वामी श्रीगीतानन्दजी	......११
५. गीता-सन्देश	......स्वामी श्रीचिन्मयानन्दजी	......३५
६. गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय	स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी	......४८
७. गीता-वार्ता	......श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	......५४
८. गीता-प्रेणता व्यास	......स्वामी गीतानन्दजी	...... ६३
९. गीता में भक्तियोग	......स्वामी श्रीरामसुखदासजी	......६७
१०. गीता में पुनर्जन्म	......ब्रह्मचारी श्रीवेदान्तानन्दजी	......७३
११. गीता-प्रश्नोत्तरी	......स्वामी श्रीगीतानन्दजी	......८५
१२. गीता का गुणातीत	......श्रीरमेशजी	......९०

सत्संग भवन

56020 अम्बाला नगर—7 56020

सत्संग भवन, गीता नगरी, अम्बाला नगर।

सम्पादक, प्रकाशक तथा मुद्रक :—

ब्रह्मचारी श्रीवेदान्तानन्द

वर्ष-२३] [अङ्क-१

जुलाई, १९८४

मूल्य-दो रुपये

वार्षिक चन्दा (डाक खर्च सहित) ३० रुपये

मासिक गीता-उपदेश का

नया वर्ष जुलाई से आरम्भ होता है।

मुद्रणालय—

'हितैषी प्रेस'

सत्संग भवन

गीता नगरी,

अम्बाला नगर-7

'गीता-उपदेश'—नव वर्षमें प्रवेश

मुर्दों को ज़िन्दा कर डाला, ऐ ऋषिवर ! तेरी वाणी ने ।
हमको इन्सान बना डाला, इस गीता-ज्ञान लासानी ने ॥

युग-दृष्टा महर्षि वेदव्यासजीको भगवान्का अंशावतार कहा जाता है। जहाँ एक ओर भगवान् श्रीकृष्ण रूप में सुदर्शन चक्र हाथ में ले कर आततताइयों के संहारक बन कर इस धरा-धाम पर अवतरित हुए, वहाँ दूसरी ओर धर्मानुरागी लोगों के कल्याणार्थ स्वयं ही दिव्य लेखनी ले कर व्यास रूप में प्रकट हुए। गीता महर्षि व्यासजी की विश्वविख्यात एवं लोकप्रिय अपूर्व कृति है। यद्यपि गीता का उच्चकोटिका अद्वितीय उपदेश महाभारत-युद्ध के समय जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने भक्तवर अर्जुनको दिया था तथापि भगवान् व्यास जी की महती अनुकम्पा से ही यह अमृतमय उपदेश जन-साधारण तक पहुँच पाया। गीता-उपदेश के श्रवणोपरान्त दिव्य-दृष्टि सञ्जयजी की भी स्वीकारोक्ति है—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

गीता — १८/७५

अर्थ—श्रीव्यासजी की कृपा से दिव्य-दृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् से सुना है।

एतदर्थ, श्रीगीताजी के सुविख्यात प्रचार-स्थल **'सत्संग भवन'** से **'परम वन्द्य सद्गुरुदेव स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज'** की पावन अध्यक्षता में प्रकाशित **'साप्ताहिक पत्रिका गीता-उपदेश'** का शुभारम्भ **'व्यास पूर्णिमा'** के उपलक्ष्य में ही किया गया। व्यास-पूर्णिमा जुलाई मास में होती है, अस्तु गीता-उपदेश का नव वर्ष भी जुलाई से ही प्रारम्भ होता है। **'गीता सुधि-पाठकों को सूचित किया जाता है कि २३वें वर्ष के प्रारम्भ अर्थात् जुलाई १९८४ से इस पत्रिका को साप्ताहिक के स्थान पर मासिक किया जा रहा है।'**

ज्ञातव्य है कि 'गीता-उपदेश' में गत पाँच वर्षों से केवल गीता-सम्बन्धी विषय ही प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम गीता-रहस्यकारों के अन्तस्तल से धन्यवादी हैं, जिन्होंने गीता-विषयक हितकारी लेखों द्वारा पत्रिका के प्रकाशन में सराहनीय सहयोग दिया है। गीता-अध्येता इसके अध्ययन से श्रीगीताजी में निहित अत्यन्त कल्याण-कारी जीवनोपयोगी भावों को हृदयंगम करते हुए सुदुर्लभ मानव-जीवन के चरम एवं परम लक्ष्य की दिव्यानुभूति कर सकें—यही इस पत्रिका के प्रकाशन का एकमात्र उद्देश्य है।

'गीतानुचर'

—※※—

'व्यास-पूर्णिमा' मुबारिक हो !

—❀❀—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥

अर्थ—'खिले हुए कमल-पुष्प की पँखुड़ियों की भाँति बड़े-बड़े नेत्रों वाले विशाल-बुद्धि भगवान् व्यासदेव ! आपको सादर-प्रणाम है; क्योंकि आपने (हृदय मन्दिर का अज्ञान-अन्धकार दूर करने के लिये) महाभारत रूपी तैल से पूर्ण यह गीता-ज्ञान रूपी दीपक जलाया है ।'

—❀❀—

गीता-वचनामृत

—❀❀—
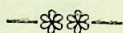
श्रीभगवानुवाच—

ऐ गीता-प्रेमी मेरे अनन्य भक्त !

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। मेरे कहने का भावार्थ यह है कि जो मेरे निष्काम अनन्यप्रेमी भक्त हैं अर्थात् केवलमात्र मेरे ही शुद्ध प्रेम में सराबोर होकर आजीवन मेरी भक्ति में निमग्न रहते हैं वही, केवलमात्र वही बड़भागी प्रेमीजन मेरे से उच्चकोटि का 'बुद्धियोग' लेने के अधिकारी बन जाते हैं। इसी बुद्धियोग के प्रताप से ही वे मेरे प्रभाव और महत्त्वादि के रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकार तत्त्व को यथार्थरूपसे समझ लेते हैं और अन्ततः मेरे दिव्य दर्शनों को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं। फलतः तुझे भी सदा-सर्वदा मेरे ही चिन्तन, स्मरण एवं भजन में अहर्निश लगे रहना चाहिये—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

गीता—१०/१०

—❀❀—
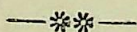
रचयिता—परम वन्द्य स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज

परमपिता महर्षि भगवान् वेदव्यासजीकी पावन जयन्ती के शुभ अवसर पर—

* श्रद्धाञ्जलि *

(१)

मुबारिक दिल वही है जो,
श्री चरणों में झुक जाय।
ख़ुदा की कसम खाता हूँ,
फ़रिश्ता वो ही बन जाय॥

(२)

न पूछो मुझ से कोई कि,
यह क्या हस्ती है, क्या हस्ती।

उन्हीं से आँख लड़ाई है,
यह वो मस्ती है, वो मस्ती ॥

(३)

अन्धेरी रात में जैसे,
मुबारिक चाँद का आना ।

जहालत से भरे दिल में,
मुबारिक **'व्यास'** का आना ॥

(४)

शहनशाह की सवारी है,
बाज़ार सजाये जाते हैं ।

मुर्शिद-ए कुल का यह दिन है आज,

यहाँ प्यार लुटाये जाते हैं ॥

(५)

यह '**व्यास पूजा**' का दिन है आज,

जबकि त्रिलोकी नाथ भी आते हैं।

चुपके-चुपके और छुपके-छुपके,

वो भी फूल चढ़ा जाते हैं ॥

(६)

तेरी अलौकिक लेखनी ने,

होश्यार कर दिया ।

उजड़ा पड़ा था मन मेरा,

गुलज़ार कर दिया ॥

(७)

सोया पड़ा था जन्मों से,

ज़हालत की नींद में ।

ऐसा जगाया तूने कि,

कमाल कर दिया ॥

(८)

यूँ तो ज़िन्दगी में कई दिन आते,

और आ के गुज़र जाते हैं ।

अजी ! यह वो मुबारिक दिन है,

जबकि बन्दे भी ख़ुदा बन जाते हैं ॥

(६)

ऐ गिरतों को उठाने वाले !

करूँ किस तरह तेरा शुकरिया !!

हाय ! दिल को तो ज़ुबाँ नहीं,

और ज़ुबाँ को दिल नहीं ॥

(१०)

एहसान तेरा ऐ ऋषिवर !

कभी भुला न सकेंगे ।

तू ने इतना दिया है,

कि हम चुका न सकेंगे ॥

(५४)

—प्रवचनकार—

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुदेव स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज़

* ज्ञानकर्मसंन्यासयोग *

(चतुर्थ अध्याय)

(गताङ्क से आगे)

प्रिय गीतानुयायी श्रद्धालु सज्जनों !

सत्संग में आना तथा शास्त्रों का पढ़ना उसीका सफल है, जिसने उसके अनुसार जीवन को व्यावहारिक रूप दे दिया वरन् जो सत्संग सुनकर शास्त्रों को पढ़कर बुद्धिमें तो बहुत सी जानकारियाँ रख लेता है अर्थात् बौद्धिक ज्ञान
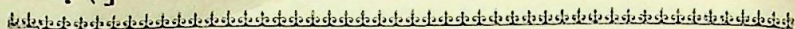
तो जिसे हो जाता है, परन्तु जीवन को उसके अनुसार नहीं बनाता, उसे महापुरुषों ने भारवाही गर्दभ कहा है।

आइये, इस सम्बन्ध में एक घटना देखिये। किसी ग्रामीण साहूकार के पास एक रिवाल्वर था। रिवाल्वर का लाइसैंस भी उसने सरकार से ले रखा था। उसे नित्यप्रति अपने कारोबार के सम्बन्ध में निकटवर्ती नगर में जाना पड़ता था। नगर का रास्ता बहुत घनघोर बन में से होकर गुज़रता था। इसीलिये जब भी वह अपने घोड़े पर सवार होकर नगर की ओर जाता, अपने रिवाल्वर में हमेशा कारतूस भरकर अपने साथ रखता ताकि कहीं यदि किसी खूँख्वार जानवर अथवा किसी डाकू ने हमला कर दिया तो वह उसका सामना कर सके। एक दिन हुआ यह कि जब उस सघने बन में से गुज़र रहा था तो एक शेर दूर से ही उच्च स्वर में गर्जना करता हुआ उसकी ओर बढ़ने लगा। शेर की भयंकर गर्जना सुनते ही वह घबरा गया। ज्यों-ज्यों शेर नज़दीक आता गया उसकी घबराहट बढ़ती गई, होश-ओ हवास उड़ने लग गये। जब शेर उसके सामने आ गया तो बजाय इसके कि अपनी रिवाल्वर का निशाना साध कर उसे वहीं ढेर कर देता, वह आप ही घबरा गया, रिवाल्वर उसके हाथ से छूट गया और वह वहीं मूर्च्छित
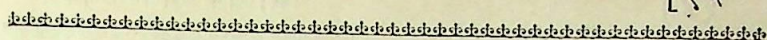
होकर गिर पड़ा। अब शेर को भी सुनहरी अवसर मिल गया। उसने झपटा मारा और घोड़े सहित उसको मौत के घाट उतार दिया।

गीतानुयायी श्रद्धालु सज्जनों! अब विचार करो कि क्या लाभ हुआ उसे रिवाल्वर अपने पास रखने का! बेचारा उसका बोझ सहता रह गया! इसी प्रकार ज्ञान का लाभ भी तब है, जब उसे व्यावहारिक रूप दिया जाये। परिस्थितियाँ जब करवट लें, हालात कुछ प्रतिकूल बनें, कोई अप्रिय घटना घट जाये—उस समय उस ज्ञानका लाभ उठाते हुए अपने मन को रोक कर रखें, मन को विक्षेपता में न आने दें। तब है ज्ञान का ठोस लाभ वरन् यदि उस समय मन भटक जाता है, हलचल में आ जाता है तो सत्संग सुनते हुए श्रीगीताजी का स्वाध्याय करते हुए भी हम उसी तरह मूर्ख कहलायेंगे जैसे ग्रामीण रिवाल्वर पास होते हुए भी समय आने पर उसका लाभ न उठा सका। 'श्रद्धेय दादागुरु स्वामी रामतीर्थजी' ऐसे मूर्ख लोगों पर व्यंग्य कसते हुए कहा करते थे—

इल्म गर्चे पढ़ लिया आलम कहाया क्या हुआ,
जब तलक उस पर अमल करना न आया क्या हुआ।
इल्म का पढ़ना इसी खातिर कि उस पर अमल हो,
वरन् यूँही मुफ़्त ही में सर खपाया क्या हुआ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि कैसे इस चोटीके ज्ञान को मनमें बसाया जाये अथवा कैसे इसे व्यावहारिक रूप दिया जाये ? इसके लिये सबसे आवश्यक या ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस भाव को मन में गहरा उतार लो कि ज्ञानके बिना जीवन बेकार है, इसके बिना न तो मेरा कल्याण हो सकता है और न ही मैं नाना प्रकार के दुःखों, कष्टों और रोगों से मुक्त होकर स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ। ज्ञातव्य है कि ज्ञान और भगवान् दो नहीं बल्कि एक ही हैं। हमारी अपूर्व हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता की जान-प्राण वेदों में कई बार ज्ञान और भगवान् का पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया गया है। जैसे सूर्य उदय होने से पूर्व उफ़क पर लाली आ जाती है अथवा इस प्रकार कह लो कि उफ़क पर लाली का आना स्पष्ट कर देता है कि सूर्योदय होनेवाला है। इसी प्रकार जिस किसी अहो-भाग्यशाली जीव के अन्तःकरण में भगवान् ने प्रगट होना होता है, पहले उसमें ज्ञान की लालिमा छा जायेगी। स्वयं भगवान्‌जीने कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

गीता—५/१६

-अर्थात्-

मगर जिनको हासिल है इरफ़ाँ का नूर,
करे ज्ञान उनकी जहालत को दूर।
कि सूरज हो जब ज्ञान का ज़ूफ़िशाँ,
तो परमात्मा की हो सूरत अयाँ॥

ज्ञान नाम केवल इसी का नहीं है कि कुछ शास्त्र पढ़ लिये या सत्संग सुनकर कुछ जानकारियाँ प्राप्त कर लीं, आध्यात्मिकता के बारे में कुछ जान लिया। ज्ञान कहते हैं—अपनी पहचान, जिस दुनियाँमें हम रह रहे हैं, उसकी पहचान और जिस परमात्मा ने हमें बनाया है और जो आत्मा बनकर हमारे ही अन्तःस्थित होकर बुद्धि, मन और तन के एक-एक अङ्ग को कार्यरत किये हुए हैं, उस सर्व-शक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर परमात्मा की पहचान। ऐसा चोटी का ज्ञान कब मिले या कब यह अन्तःकरण में बसे—भगवान्‌जी थोड़े शब्दों में ही गागर में सागर भरते हुए कहते हैं—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता–४।३९)

अर्थात् श्रद्धालु व्यक्ति ही इस ज्ञानको प्राप्त कर सकता है, जिसकी भगवान् और उनके अनमोल फ़रमान पर अटूट श्रद्धा हो चुकी है—सचमुच वही, केवलमात्र वही अधिकारी
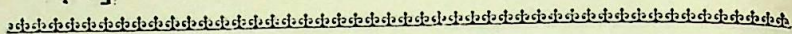
है इस ज्ञान को प्राप्त करने का और ज्ञान प्राप्त करके बिना विलम्ब स्थायी शान्ति प्राप्त करने का। कितना महान् आश्वासन है अपने श्रद्धालु भक्त के लिये भगवान्‌जीका !

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।

—अर्थात्—

उसे ज्ञान हासिल हो अंजाम-ए कार,
वो पाये ख़ुदाई सकून-ओ क़रार ।

जबतक यह बात मनमें गहरी नहीं उतर जाती तब तक तो ज्ञान अन्तःकरण में आने से रहा। किसी की ओर भी मन तब ही झुकता है जब उससे यह आशा हो कि इससे मुझे शान्ति मिलेगी और मेरा कल्याण होगा। ऐसा भाव बन जाने से मन उसकी महत्ता बढ़ा लेता है और जिसकी महत्ता मन में बढ़ती है, उसकी ओर इसका स्वाभाविक ही झुकाव हो जाता है। गल्ती से हमनें संसार की महत्ता बढ़ा ली है। अब गीताजीके चोटी के विचारों को लेकर हमने पुनर्मूल्यांकन (Re-evalution) करनी है। पुनर्मूल्यांकन कैसे हो ? संसार और भगवान् में तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) करके, दोनों में गुण-दोषों की तुलना करके। तुलना करने पर पता चलेगा कि भगवान् में गुण-ही-गुण हैं और संसार में दोष-ही-दोष।
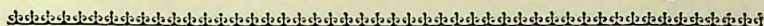
इसलिये संसार के बारे में भगवान्‌जीने चेतावनी देते हुए कहा है—

जन्ममृत्यु-जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ।

गीता—१३/८

—अर्थात्—

यही ग़ौर करना कि लें छीन सुख,

जन्म, मौत, पीरी, मर्ज़, दर्द, दुःख ।

दूसरी ओर भगवान्‌जी गुणोंका घर हैं । सभी गुण उनमें से इसी प्रकार निकलते हैं जैसे सूर्य में से किरणें । अपने ही मुखारविन्दसे भगवान्‌जी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

भवन्ति भावाः भूतानां मत्तः एव पृथग्विधाः ।

गीता—१०/५

—अर्थात्—

गरज़ जानदारों में जो हैं सबात,

है उन सबका मम्बा मेरी पाक ज़ात ।

मन गुणों को देखकर किसी की ओर जाता है, जहाँ कहीं इसे अवगुण नज़र आते हैं, वहाँ से तत्काल अपने-आपको हटा लेता है । जब यह पता चला कि गुणों का घर तो भगवान् हैं, संसार में अवगुण-ही-अवगुण हैं—तब देखो कि अब मन कैसे संसार से उपराम होकर भगवान् की ओर लपकता है तथा उनकी पहचान करने या अनुभव

करने के लिये कैसे लालायित होता है ! मन नाम विचारों का है। पहले संसार के नाशवान् नाम-रूपों के विचार-कर-करके यह दुःखी होता रहा, अब इसे गीताजीके उच्च-कोटि के विचारों से भरने का पुरुषार्थ करो। ये विचार जब परिपक्व हो गये—तो इसी को भगवान्जी कह रहे हैं—'ज्ञानावस्थितचेतसा:'। भूलना नहीं कि इन विचारों को अन्तःकरण में बसाये बिना, मनको इनमें टिकाये बिना कभी भी स्थायी शान्ति नहीं मिल सकेगी। यदि ऐसे विचार या ज्ञान अन्तःकरण में नहीं है तो इन्सान सचमुच शक्ल रूप में तो इन्सान ज़रूर है, परन्तु क्षमा करना—मज़बूर होकर कहना पड़ रहा है कि वास्तव में वह हैवान ही है। जब ज्ञान नहीं तो होगा क्या—जैसा उद्वेग अथवा जैसा विकार मनमें आयेगा—इन्सान फौरन बिना सोचे-विचारे वैसा ही करने लग जायेगा। ज्ञान इन्सान को उचित-अनुचित की पहचान करवाता है। यदि ऐसा कह दें तो भी शायद कोई अत्युक्ति या अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ज्ञान इन्सान की ब्रेक है। इसी को कहा जाता है कि 'घोड़े को लगाम से और इन्सान को ज्ञान से' काबू में रखा जा सकता है वरन् यदि इन्सान ज्ञान द्वारा अपने को नियन्त्रण नहीं करता तो होगा क्या ? इसका बहुत मार्मिक एवं हृदय-स्पर्शी नक्शा खींचते हुए भगवान्जी अपने श्रीमुख

से कह रहे हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता—२/६७

—अर्थात्—

हवास आदमी के भटकते हों गर,
हो इस हरज़ा गिरदी का दिल पे असर।
तो दिल अक़ल को ले चले इस तरह,
कि तूफ़ाँ में किश्ती बहे जिस तरह॥

जबतक इन्सान 'ज्ञानावस्थितचेतसाः' की अवस्था नहीं बना लेता, जबतक वह अपने अन्तःकरण में ज्ञान को स्थिर नहीं कर लेता तबतक वह अशान्त बना रहेगा, उसका जीवन डाँवाडोल होता रहेगा। फलतः आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य एवं अपरिहार्य हो जाता है कि बिना विलम्ब ज्ञान को अपने अन्तःकरण में टिका लिया जाये। इसके पश्चात् भगवान्‌जी कह रहे हैं—

यज्ञाय आचरतः कर्म

'यज्ञ'—कितना छोटा-सा शब्द है। परन्तु ध्यान देना जितना छोटा शब्द है, उतने ही अपने में यह गूढ़ एवं कल्याणकारी भाव रखता है। यज्ञ का अर्थ है कुरबानी या

बलिदान। राजा बलिने अपना सर्वस्व दान कर दिया था। भगवान् वामन अवतार लेकर ब्राह्मण के रूप में उनके पास आये तब गुरु शुक्राचार्य के कहने के बावजूद राजा ने उनको ढाई पग भूमि देने का वचन दे दिया ! एक कदम में उन्होंने सारी पृथ्वी माप ली, दूसरे में आकाश और तीसरा पग उन्होंने बलि के सिर पर रखकर उसे पातालमें पहुँचा दिया। तब ऊपर से देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की। क्योंकि राजा बलि ने अपूर्व दान किया था, दान का एक ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत किया था, जो पहले किसी ने नहीं किया और शायद न ही कोई कर पाये। तभीसे यह शब्द प्रसिद्ध हो गया—बलिदान। मातृ-भाषा हिन्दी में प्रयुक्त निसार शब्द का अर्थ भी कुरबानी लिया जाता है। जब रहट चल रहा होता है तो रहटके लोटे भर-भरकर जिसमें पानी गिराते हैं उसे भी निसार कहा जाता है। उसमें पानी तो आता है, पर वह उसे अपने पास नहीं रखता। आगे नाली के द्वारा पानी खेतों में जाता रहता है तथा कई पशु-पक्षी भी वहाँ से पानी पीकर अपनी प्यास बुझाते रहते हैं। बस मेरे भाई ! यही यज्ञ का अर्थ है जबकि कर्म करते हुए कुरबानी का भाव हो, अपने स्वार्थ को छोड़कर अनेकोंके लाभ को सामने रखकर कर्म किये जायें। जैसे निसार में से पानी नाली में जाता है तो निसार क्या सूखी रह
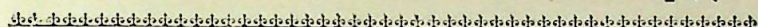
जाती है ? नहीं तो—इसी प्रकार जो अनेकों के लाभ को सामने रखकर कर्म करता है, निजी लाभ की ओर ध्यान न देकर या स्वार्थ की कुरबानी करके जब वह दूसरों की भलाई के लिये कर्मों में जुट जाता है तो उसका लाभ अपने-आप ही हो जाता है।

अनेकों के लाभ में ही जीव का अपना लाभ होता है। यदि कोई यह कहे कि मेरा लाभ होना चाहिये किसी की हानि होती है तो हो जाये—इससे मुझे क्या ! ऐसा व्यक्ति कभी भी अपने साथ भलाई नहीं कर सकता। समाज एक बहुत बड़ी लड़ी है जो कड़ी-कड़ीसे मिलकर ही बनती है। प्रत्येक इन्सान समाजरूपी लड़ी की एक कड़ी है। समाज तभी सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूपसे चल सकता है यदि सभी मिलकर रहें, एक दूसरे को सहयोग पहुँचाते रहें। बस, इसी का नाम यज्ञ है जब कि सभी एक दूसरे को सहयोग देकर तथा अनेकों का लाभ करते रहें तथा इसी में अपना लाभ समझें। कर्मयोग नामक तीसरे अध्यायमें भगवान्‌जी ने स्पष्ट किया है कि कल्प के आदिमें प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देने वाला होवे—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

गीता—३/१०

—अर्थात्—

जो ख़ालिक ने इन्साँ को पैदा किया
तो यज्ञ को भी पैदा किया और कहा ।
कि फूलो-फलो यज्ञ पि रखकर यकीं,
मुरादों की यह गाय है कामधीं ॥

कितने दुःख की बात है कि आजका विचित्र मानव इस अत्यन्त कल्याणकारी भावको भुलाकर अपने स्वार्थों को पूरा करने में लगा हुआ है। उसका स्वार्थ पूरा होना चाहिये—भले ही किसी की हानि होती है तो हो जाये। दूसरों को नुकसान पहुँचा कर भी वह अपने स्वार्थ को पूरा करना चाहता है। परन्तु भूल जाता है वह प्रकृति के इस अटल-अपेल सिद्धान्त को—

अपने नफ़ा के वास्ते मत और का नुकसान कर ।
तेरा भी नुकसाँ होयेगा इस बात पर तू ध्यान कर ॥

क्रियाकी प्रतिक्रिया आमने-सामने बराबर हुआ करती है। यदि कोई दूसरों को लाभ पहुँचायेगा; उनकी भलाई के लिये अपने को लगायेगा तो प्रतिक्रिया रूप में उसका

भी भला होगा, उसे भी लाभ पहुँचेगा। परन्तु यदि वह यह कहे कि दूसरों को हानि पहुँचा कर, दुःख देकर मैं सुखी हो जाऊँ तो यह उसकी बहुत भारी भूल है, प्रतिक्रिया रूप में उसको भी हानि उठानी पड़ेगी, और अपने किये पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसीलिये भगवान्‌जी ने कल्याणकामी जीव को चेतावनी के साथ यह शुभ-मन्त्रणा भी दी है कि यज्ञ के अतिरिक्त जितने भी कर्म हैं अर्थात् यज्ञ की भावना को छोड़कर जो भी कर्म किये जाते हैं, वे जीव को बन्धनमें डाल देते हैं। इसलिये आसक्ति से रहित होकर परमेश्वर के निमित्त ही समस्त कर्मों का भली प्रकार आचरण करना चाहिये—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

गीता—३/९

—अर्थात्—

अमल जिस कदर भी हैं यज्ञ के सिवा,
वो दुनियाँ को बन्धन में रक्खें सदा।
किये जा तू सब काम यज्ञ जानकर,
लगावट न रख और न फल पर नज़र ॥

जहाँ यज्ञ का भाव नहीं होगा, वहाँ स्वार्थ होगा।

स्वार्थ का अर्थ है—स्व+अर्थ—अर्थात् अपना मतलब। जो कामना मनमें उठ गई उसे पूरा करनेके लिये ही अपने-आपको लगा दिया। कामना कमीका नाम है और जबतक जीव संसार के प्राणी-पदार्थों में अपनी खुशी मानता रहेगा, तबतक उसकी यह कमी बनी ही रहेगी। क्योंकि संसार अधूरा है, जबतक इससे खुशी की आशा रखकर जीव इस की कामनायें करता रहेगा, तबतक सुखी होनेके स्थान पर वह कर्मों के बन्धनमें बुरी तरह उलझता जायेगा। कामना रखकर किया गया प्रत्येक कर्म अन्तःकरण पर संस्कार डालता जाता है और यही संस्कार जीव के बन्धन का कारण बन जाते हैं। इसीलिये भगवान्‌जी कह रहे हैं—

अमल जिस कदर भी हैं यज्ञ के सिवा,
वो दुनियाँ को बन्धन में रक्खें सदा।

जब कर्म करते हुए किसी प्रकार का कोई स्वार्थ नहीं, कोई कामना मन में हलचल नहीं मचा रही, तब कर्म करते हुए उस कर्म के संस्कार अन्तःकरण पर पड़ ही नहीं सकते। यही नहीं, जो संस्कार पहले अन्तःकरण पर अंकित होते हैं, दूसरों की भलाई की भावना से कर्म करने पर वे भी धुलते चले जाते हैं; क्योंकि—

किसी की भलाई है अपनी भलाई।
भलाई से होती है दिल की सफाई॥
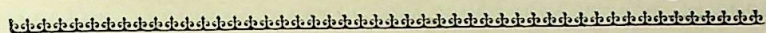
यही विचाराधीन श्लोक के अन्तिम चरणका अभिप्राय है, जिसमें भगवान् जी कह रहे हैं—'समग्रं प्रविलीयते' अर्थात् जो संग से रहित है, सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त है, ज्ञान को अपने अन्तःकरण में स्थिर कर चुका है तथा यज्ञमयी भावना से सब कर्मों का आचरण कर रहा है—ऐसे पुरुष के सब कर्म विलीन हो जाते हैं। क्या मतलब ? यही कि कर्मों को करते हुए भी उनमें जीव को बन्धन में डालने की शक्ति नहीं रहती। किसी प्रकार से भी वे जीव को कर्मों के बन्धन में उलझा नहीं सकते। कर्म करते हुए भी जीव अकर्मी बना रहता है। जैसे रस्सी को जला देने पर भी शक्ल भले ही रस्सी की रहती है, परन्तु उस रस्सी में बाँधने की शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार ऐसा ज्ञानी व्यक्ति भले ही बाहरी रूप में कर्म करते हुए दिखाई देता हो; परन्तु उसके द्वारा किये जाने वाले कर्मों में उसे बन्धन में डालने की शक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके कर्मों में ममता, अहंता, फलेच्छा तथा कर्तृत्वादि कुभावों का सर्वथा अभाव होता है।

उक्त श्लोक में यज्ञ की महिमा बतलाते हुए भगवान्जी ने कहा कि यज्ञमयी भावना से कर्म करने पर समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् उनका किसी प्रकार का कोई प्रभाव अन्तःकरण पर नहीं पड़ता। अब यज्ञ का स्वरूप

और यज्ञ का और भी महान् फल बतलाते हुए भगवान्जी आगामी श्लोक में गुलफिशाँ हो रहे हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

गीता—४/२४

अर्थ—जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।

-अर्थात्-

जो क्रिया में देखे ख़ुदा ही ख़ुदा,
है अग्नि ख़ुदा और हवि भी ख़ुदा।
हवन और हवन करने वाला वोही,
ख़ुदा से जुदा वो न होगा कभी ॥

यह श्लोक श्रीगीताजी के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोकों में से एक माना जाता है। इस श्लोक के शाब्दिक अर्थ ही पर्याप्त नहीं—यह तो भगवान्जी एक दृष्टान्त दे रहे हैं कि हवन में प्रयोग की जाने वाली जितनी भी सामग्री है वह सब भगवान् का ही रूप समझी जानी चाहिये—जो ऐसा

भाव बना लेगा, वह भगवान्‌जी अपने ही श्रीमुख से कह रहे हैं कि ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

आइये, अब इसके लाक्षणिक या दार्शनिक (Indicative or philosophical) अर्थ लें। इस श्लोक के लाक्षणिक अर्थ यही लेने चाहियें कि सबमें एक ब्रह्म ही व्याप्त है। ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। स्मरण रहे कि गीतारूपी दैवी गीत की टेक भी यही है। क्या?

अनेक में एक

—यही है—

श्रीगीताजी की टेक

इस तथ्य एवं सत्य को भगवान्‌जी ने अपनी दिव्य वाणी श्रीगीताजी में एक नहीं, अनेक बार स्पष्ट किया है। सातवें अध्याय में तो ज़ोरदार घोषणा करते हुए इस तथ्य के स्पष्टीकरण में शङ्का की कोई गुञ्जाइश ही नहीं रखी यह कहते हुए कि उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सारा संसार उनमें इसी प्रकार व्याप्त है जैसे एक ही सूत्र में अनेक मणियाँ—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

गीता—७/७

-अर्थात्-

सुन अर्जुन नहीं कुछ भी मेरे सिवा,
न है मुझसे बढ़ कर कोई दूसरा ।
परोया है सब कुछ मेरे तार में,
कि हीरे हों जैसे किसी हार में ॥

किसी भी वस्तु के निर्माण में दो कारण होते हैं— निमित्त कारण और उपादान कारण (Material cause and Immidiate cause) अर्थात् एक तो उस वस्तु के निर्माणके लिये आवश्यक सामग्री चाहिये और दूसरे बनाने वाला । कोई भी वस्तु ले लो–जो बनी है, जिसका निर्माण या उत्पादन हुआ है–उसमें दो का सहयोग अवश्य होगा– एक बनाने वाला या उत्पादन करनेवाला और दूसरा उसके लिये प्रयोग की जाने वाली सामग्री । परन्तु सृष्टि की रचना में तो निराली ही बात है ! सृष्टिको बनाने वाले भी भगवान् हैं और उसके लिये प्रयोग की जाने वाली सामग्री भी कहीं बाहर से नहीं आई; भगवान्‌जी ने अपने में से ही वह सामग्री निकाली है । अरे भाई ! जब भगवान् के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं, है नहीं, होगा नहीं—फिर सामग्री भला और कहाँ से आयेगी ?

हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें स्पष्ट वर्णन आया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व भगवान्‌जी में यह सङ्कल्प स्फुरित हुआ था–'एकोऽहं

बहु स्याम्' अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक हो जाना चाहता हूँ। इसी संकल्प से ही भगवान्‌जी ने अपने ही भीतर से तीन गुण (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण) तथा पाँच तत्त्व (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) निकाले। इन्हीं आठों के समुदाय से ही सृष्टिमें नाना प्रकार के प्राणियों की रचना हुई है। अब विचार करो कि भगवान् स्वयं ही सृष्टि को बनाने वाले और बनानेवाली सामग्री भी स्वयं भगवान् ही हैं–फिर कोई भी वस्तु उनसे अलग कैसे हो सकती है! वैसे इसी श्लोक से मिलता हुआ यज्ञ का दृष्टान्त भगवान्‌जी ने अपने स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये नावें अध्याय में भी दिया है यह कहते हुए कि वे ही क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म हैं, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म भी वे ही हैं, स्वधा अर्थात् पितरों के निमित्त दिया जाने वाला अन्न भी वे ही हैं, औषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ भी वे हैं, मन्त्र, घृत, अग्नि और हवनरूप क्रिया भी वे स्वयं ही हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

गीता—६/१६

—अर्थात्—

तू यज्ञ और पूजा मुझी को समझ,
शराधों का ग़ल्ला मुझी को समझ।

मैं बूटी हूँ, मन्त्र हूँ, अग्नि हूँ, घी,
मैं यज्ञ भी हूँ और उनके आमाल भी ॥

यह हो गया सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन अर्थात् सबमें एक परमात्मा की दिव्य झाँकी को निहारना। सृष्टि में जितनी भी भिन्नता या अनेकता देखने में आती है, वह सब प्रतीति मात्र है, वास्तविकता नहीं। वास्तविकता तो इस सारी अनेकता या भिन्नता में एक परमात्मा है, जिनसे यह सब कुछ बना है और जिनके कारण से इनमें रौनक या चहल-पहल है। नाम-रूप तो सब नाशवान् हैं, हर क्षण इनमें परिवर्तन आते रहते हैं और परिवर्तन आते-आते एक समय ऐसा भी आ जाता है जब इनका हमसे वियोग हो जाता है या यूँ कह लीजिये कि ये इस नश्वर एवं क्षणभंगुर संसार—यहाँ तक कि अपनी काया को भी यहीं छोड़ कर चले जाते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन नाशवान् नाम-रूपों में भगवान्‌जी ने अपनी अविनाशी सत्ता रखी है, जो इनकी जान-प्राण बनी हुई है। बस जो रूपों को नाशवान् समझ कर अपना मन इनसे उपराम कर लेता है और इनके भीतर इनकी यथार्थता की ओर दृष्टि जमा देता है—वही व्यक्ति बुद्धिमान् है, वही सच्चा योगी, ज्ञानी या भक्त है, उसी का मानव-जन्म सफल है। भगवान्‌जी भी ऐसे अहोभाग्यशाली जीव का उत्साहवर्धन करते हुए कहते हैं कि जो पुरुष नष्ट

होते हुए सब चराचर प्राणियों में नाशरहित या अविनाशी परमेश्वर को समभावसे सबमें स्थित देखता है, वही यथार्थ रूप में देखता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

गीता - १३/२७

—अर्थात्—

जो है कुछ नज़र तो उसी की नज़र,
नज़र में रहे जिसकी परमेश्वर ।
है सब ज्ञान वालों में ज्ञानी वही,
कि फ़ानी में है ग़ैर फ़ानी वही ।।

सचमुच, नज़र तो वही है जो नज़र देनेवाले (नाज़र) का अनुभव कर उन्हें देख ले । वरन् वह भी क्या नज़र हुई जो साँसारिक रूपों को ही देखने तक रह गई । अरे भाई ! संसार में तो सब कुछ नाशवान् है । जो वस्तु आज अच्छी लग रही है, क्या मालूम वह कल तक रहे भी या न रहे । दूसरी बात यह है कि संसार में हर वस्तु पर घटते हुए तुष्टि गुण (Law of Diminishing Utility) का नियम लागू होता है । जो वस्तु हमें आज अच्छी लगी है, कल वह उतनी अच्छी नहीं लग सकती । बार-बार देखने से एक
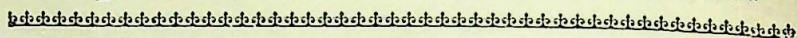
समय ऐसा आयेगा जब मन ऊब जायेगा और उस वस्तु को देखने की इच्छा ही नहीं रहेगी।

—परन्तु—

भगवान्‌जी का एक बार अनुभव करो, उन्हें देखो—ज्यों-ज्यों आप अनुभव करेंगे—आपका मन उतना ही अधिक प्रसन्न होगा, उतनी ही अधिक आपको मानसिक शान्ति मिलेगी और मन अधिकाधिक तल्लीन होता जायेगा। भगवान्‌जी को छोड़ कर संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक दृश्य इस नियम के अधीन आता है। भला कहाँ की बुद्धिमत्ता है कि फिर भी साँसारिक नाम-रूपों को देखनेकी इच्छा करते रहें।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। जब भी मन सुख-दृष्टि रख कर किसी नाम या रूप अथवा दृश्य को ललचाई हुई दृष्टिसे देखता है, तब अवश्य ही उसके संस्कार अन्तःकरण पर अंकित हो जाते हैं जिससे जीव बन्धनमें आ जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कैमरे में सुग्राह्य पत्र (Sensitive plate) लगा कर जब उसे क्लिक किया जाता है तो उसी समय बाहरी दृश्य उसमें अंकित हो जाता है।

आह, कितनी विडम्बना बल्कि भयंकर भूल है! जो वास्तविकता है, जिसको देखने के पश्चात् मानसिक शान्ति

बढ़ती है, अन्तःकरण के समस्त संस्कार एवं विकार भस्मीभूत हो जाते हैं तथा जिसे देखने के पश्चात् और कुछ देखने की इच्छा ही नहीं उठती—उसे न देख कर इन्सान उन नाम-रूपों की ओर ललचाई हुई दृष्टि से देखता रहता है, जिन्हें देखने से न कभी किसीकी तृप्ति हुई है और न ही हो सकती है। 'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' में कहा गया है—

अखीं वेख न रज्जियाँ बहु रंग तमाशे।

आँखें कभी बाहरी दृश्यों को देख कर तृप्त नहीं हो सकतीं, फिर भी हम इन्हें देखने में ही अपनी अनमोल आयु को तबाह करते रहें—बुद्धिमान्-विचारवान् व्यक्ति तो कभी भी ऐसा सहन नहीं करेगा। हाँ, अज्ञानी-विचारहीन व्यक्ति अवश्य इन्हीं में ही लग-लग कर अपने लिये स्वयं ही दुःखों के सामान पैदा करते रहेंगे।

बस, लाख की एक बात! जब तक इन्सान वास्तविकता की ओर नहीं जाता, उन्हें अनुभव करने के लिये अपने-आपको लगाता या जुटाता नहीं—तब तक वह धक्के ही खाता रहेगा, रोता-चिल्लाता रहेगा और अपने लिये आप ही दुःखों को मानो निमन्त्रण देता रहेगा। आज का वैज्ञानिक भी यह स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि कोई भी वस्तु जो बनी है—उसमें दो गुण होंगे—आवश्यक गुण और
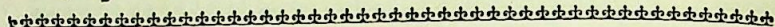
अनावश्यक गुण (Essential property and Non-essential property)। आवश्यक गुण किसी भी वस्तु का वह होता है जिसके बिना वह वस्तु रह ही न सके या उसका अस्तित्व ही न रहे। जैसाकि अग्नि का दृष्टान्त ले लो—अग्नि लम्बी है, चौड़ी है, गोल है, अग्नि की लपटें बहुत ऊँची-ऊँची जा रही हैं—ये सब अग्नि के अनावश्यक गुण हैं। अग्नि का आवश्यक गुण है—उष्णता तथा प्रकाश (Heat & light)। विचार करो—यदि अग्नि में उष्णता या गर्माइश और प्रकाश ही न हो तो उसे अग्नि कैसे कहा जा सकता है !

—ठीक इसी प्रकार—

संसार के समस्त प्राणियों का आवश्यक गुण है—आत्मा। चेहरे सुन्दर हैं, गोल हैं, चपटे हैं, रंग-रूप कैसा है—ये सब अनावश्यक गुण हैं। आवश्यक गुण तो एक ही है—आत्मा। आत्मा के बिना शरीरों का कोई अस्तित्व ही नहीं।

—क्रमशः
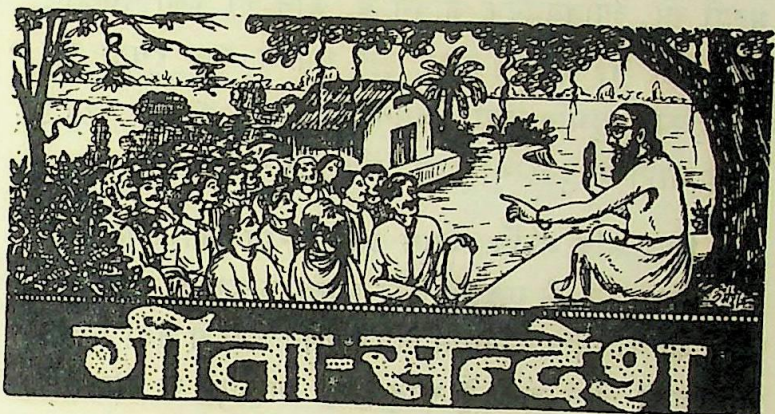
प्रस्तावना—

—व्याख्याकार—

परम पूज्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्दजी

—❀❀—

जहाँ उपनिषद् जीव, जगत् और ईश्वर के तात्विक स्वरूप की विवेचना करने वाले मूल ग्रन्थ हैं, वहीं श्रीमद्भगवद्गीता उन सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तोंकी निर्देशिका है, जिनका उपयोग मनुष्य अपने दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवनमें सफलतापूर्वक कर सकता है।

गीता, स्वयं भगवान् द्वारा विरचित एक अलौकिक काव्य है, जो महाभारत के भीष्मपर्व के पच्चीस से बयालिस
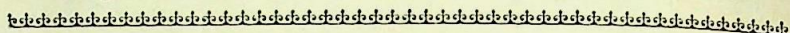
तक के अठारह अध्यायों में उल्लिखित है। आध्यात्मिक मूल्यों को व्यावहारिक जीवन में जीने की कला सिखाने वाले इस महान् ग्रन्थ द्वारा हिन्दू धर्म में एक रचनात्मक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने पौराणिक कालके पश्चात् हिन्दू जाति के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त किया।

सिद्ध कवि महर्षि व्यास इस ईश्वरीय काव्य गीता के द्वारा हिमालय की एकान्त और शान्त कन्दराओं में उपदिष्ट ज्ञान को राजनैतिक जीवन के कर्ममय क्षेत्र में तथा निकट भविष्य में होने जा रहे भ्रातृ-हन्ता महायुद्ध के मानसिक तनावयुक्त और भ्रमपूर्ण वातावरण में उतार लाये। किसी प्रकार के मानसिक दुष्प्रभाव के दबाव के कारण अर्जुन का मनःसंयम टूट कर बिखर गया और वह विवेकानुसार कार्य करने की क्षमता भी खो बैठा। ऐसो विषम परिस्थितियों में भगवान् श्रीकृष्ण ने वैदिक ज्ञान का उपदेश दे कर भय विह्वल और निराश अर्जुन का उपचार किया।

तत्त्वज्ञान का व्यवहार में उपयोग ही धर्म कहलाता है। समयानुसार परिवर्तित परिस्थितियों के संदर्भमें प्राचीन तत्त्वज्ञान की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता होती है। धार्मिक प्रवक्ता, ज्ञानी तथा सिद्ध पुरुष सामान्य जनों का मार्ग-दर्शन करते हुए बताते हैं कि प्राचीन ज्ञान का उपयोग वर्तमान

व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार प्रभावशाली ढंगसे किया जा सकता है।

वैदिक ज्ञान के प्रकाश में यदि हम गीता के अर्थ को समझने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निरहंकार और निःस्वार्थ भाव से किये गये कर्म मन को वासनाओं से मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार वह मन सूक्ष्म और शुद्ध हो कर अनन्त स्वरूप की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। इसे और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये मन पर तथा दैनिक जीवन में उसकी कार्य प्रणाली पर विचार करना होगा।

मन ही मनुष्य है। जैसा मन वैसा व्यक्ति। मन के क्षुब्ध या शान्त होने पर व्यक्ति क्षुब्ध या शान्त कहलाता है। मन के अध्ययन की दृष्टि से हम उसे दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक भाग वह है, जो बाह्य जगत् की ओर है जहाँसे वह विषय ग्रहण करता है। दूसरा भाग वह है, जो इन ग्रहण किये गये विषयोंके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वेदान्त में इनको क्रमशः मन और बुद्धि कहते हैं।

जिस व्यक्ति में मन और बुद्धि दोनों मिल कर सुचारु रूप से कार्य करते हैं वह व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ कहा जाता

है। सन्देह के क्षणों में उसका मन बुद्धि के अनुशासन में तत्काल आ जाता है। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि केवल कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर अधिकतर लोगों में मन और बुद्धि की युक्तता नहीं रहती है। इन दोनों के मध्य की दूरी के मुख्य कारण हैं, मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ। मन और बुद्धि के मध्य यह दूरी जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक भ्रांति उस मनुष्य में उत्पन्न होती है। उसका अहंकार भी बढ़ता जाता है और उसकी इच्छायें निम्न कोटि की होती हैं, जिनका प्रदर्शन उस व्यक्ति के जीवन में हुआ करता है।

जाग्रत् अवस्था में हम प्रतिक्षण बाह्य जगत् का अनुभव पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करते हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों की असंख्य संवेदनायें मन तक जाती हैं, जो व्यक्ति की अहं-केन्द्रित कामनाओं की परतोंसे छनती हुई बुद्धि की गहराई तक पहुँच जाती हैं। ये संवेदनायें मनुष्य की बुद्धि में पहुँच कर वहाँ पहले से सावधानीपूर्वक संगृहीत वासनाओं के साथ प्रतिक्रिया करती हैं और उस प्रतिक्रिया को हम पाँच कर्म इन्द्रियों के द्वारा बाह्य संसार में व्यक्त करते हैं।

हर क्षण मनुष्य विभिन्न प्रकार के उत्प्रेरकों से मिलता है और बुद्धि में नई वासनायें संगृहीत करता रहता है।

संवेदनायें बुद्धिमें पहुँच कर वहाँ पहले से संगृहीत वासनाओं को केवल बढ़ाती ही नहीं हैं वरन् वे स्वयं भी उन संगृहीत वासनाओंका प्रभाव ग्रहण कर लेती हैं। कर्मरूपमें परिणत हो कर जब वे संवेदनायें पुनः बाहर आती हैं तो उन पर बुद्धि में सञ्चित वासनाओं का रंग चढ़ा रहता है।

हम सब निरन्तर विभिन्न प्रकार के अनुभव अर्जित करते हैं और प्रत्येक बार हम देखते हैं, दृश्य वस्तु से प्रतिक्रिया करते हैं और बाह्य जगत् में कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में जाने-अनजाने ही हम नयी वासनाओं की अशुद्धियाँ भी एकत्र करते रहते हैं। इनसे ही हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर वासनासंकुल होती जाती है। ये वासनायें हमारी बुद्धि को मन्द और अपारदर्शी बना देती हैं, जिसके कार. अपने हृदय में ही स्थित चैतन्यस्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो पाता।

वेदान्त के सिद्धान्तानुसार वासनाक्षय ही मनोनाश का साधन है। दर्पण में देखने पर यदि मुझे अपनी मुखाकृति नहीं दिखाई पड़ती तो उसका कारण यह नहीं है कि दर्पण में मुख को प्रतिबिम्बित करने की सामर्थ्य नहीं है, वरन् उसका कारण दर्पण के तल पर जमी धूलि की घनी पर्त है। एक कपड़े से दर्पण को स्वच्छ करने की क्रिया उसमें प्रतिबिम्ब को उत्पन्न नहीं करती। वह केवल धूलि के
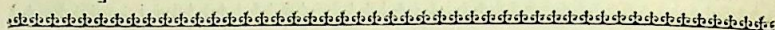
आवरण को दूर कर देती है, जिससे मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने लगता है, जो पहले से वहाँ विद्यमान था। इसी प्रकार अहंकार और स्वार्थपूर्वक किये गये कर्मों से उत्पन्न वासनाओं के घने आवरण के कारण ही हमें अपने शुद्ध दिव्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं होता है।

गीता में उस योग का उपदेश दिया गया है जिसके अभ्यास से मन और बुद्धि के बीच एक सुखद तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। तत्पश्चात् अनुशासित मन सदैव बुद्धि के निर्देशानुसार कार्य करता है। इन दोनों में दूरी उत्पन्न करने वाली अहंकारमूलक इच्छाओं के क्षय से यह कार्य सम्पादित किया जा सकता है। इसे गीता में 'बुद्धियोग' कहा गया है।

मन और बुद्धि में योग हो जाने पर समत्व योगी कर्म में कुशल हो जाता है। वह अपने मन के द्वारा बाह्य उत्प्रेरकों के साथ समझदारी से प्रतिक्रिया करता है और उसके कर्म बुद्धि में पहले से विद्यमान वासनाओं का क्षय करते हैं। इस प्रकार कु लता से कर्म करते हुए मनुष्य अपनी वासनाओं को नष्ट कर अपनी बुद्धि को स्वच्छ बना सकता है। उसकी बुद्धि क्रमशः अधिक निर्मल और प्रकाशवान् हो जाती है।

भगवान् शङ्कराचार्य जैसे भाष्यकारों ने इस बात पर

बहुत बल दिया है। वे अहंकाररहित भाव और ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करने के लिये बार-बार कहते हैं। अन्ततः इससे आन्तरिक शुद्धि होती है। शंकराचार्य के मत अनुसार अपने भीतर आत्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने के पूर्व अपनी बुद्धि को परिमार्जित करना बहुत आवश्यक है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य के पास बुद्धि ही वह रहस्यमय अस्त्र है जिसके द्वारा वह अपने अन्दर संगृहीत वासनाओं के भण्डार को बाहर निकाल सकता है। किंतु दुर्भाग्य यह है कि सामान्य मनुष्य अज्ञान के कारण अपनें भयंकर अस्त्र का दुरुपयोग करता है और स्वयं अपना विनाश कर लेता है। वह स्वार्थपूर्ण कर्म करते हुए इसी बुद्धि के द्वारा अपनी वासनाओं का भण्डार बढ़ाता जाता है।

इन वासनाओं को क्षीण करने हेतु प्रकृति जीव को अनेक उपाधियाँ (शरीर) प्रदान करती है, जिन्हें यह जीव जन्म-जन्मान्तर में धारण करता है। गीताका स्पष्ट उपदेश है कि हमें न तो कर्म त्यागने चाहियें और न ही इस जगत् को। बुद्धिमत्तापूर्वक इस जीवन का उपयोग हम ऐसा करें कि कर्मपालन के द्वारा ही हम अपने चित्त की अशुद्धियोंको दूर कर लें।

अयुक्त मन अनेक मानसिक रोगों एवं विकारों का
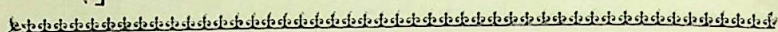
शिकार बन जाता है । अर्जुन सामान्य रूप से शिक्षित पुरुष था और महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि वह किन परिस्थितियों में बड़ा हुआ था । सम्पूर्ण महाभारत के बिना हम न तो अर्जुन की मनःस्थिति को ही और न भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को ही ठीक से समझ पाते । गीता सम्पूर्ण महाभारत का ही एक आवश्यक अङ्ग है, जिसके बिना यह ग्रन्थ एक महत्त्वहीन और गरिमारहित सामान्य कथानक मात्र होता और महाभारत की पृष्ठभूमि के बिना गीता किसी दार्शनिक की एक कविता मात्र बन कर रह जाती । कथा और काव्य के सुन्दर संयोग से ही इसमें पूर्णता है । एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण एवं प्रभावहीन है ।

आधुनिक मनोविज्ञान में, मन की भावनाओं का दमन करने पर उत्पन्न होने वाले भयानक परिणामों का विस्तृत वर्णन करने वाली अनेक पुस्तकें लिखी मिलती हैं । हमारे जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब हम जानते हुए भी अपने मनोवेगों का दमन करते रहते हैं; परन्तु प्रायः यह गलती हम अनजाने ही करते हैं, इस प्रकार दमन किये गये मनोवेगों में भयंकर शक्ति होती है, जो व्यक्त होने के लिये अवसर खोजती रहती हैं। यदि उस शक्तिका उचित प्रकार से उपयोग नहीं किया गया, तो वह उस व्यक्ति को ही नष्ट

कर देती है। यद्यपि अर्जुन में इस प्रकार के दमन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि महाभारत के सजग अध्येताओं को उसकी इस मनःस्थिति का कारण अज्ञात नहीं रह सकता। युद्धभूमि में वीर योद्धा अर्जुन अपनी दमित भावनाओं की चपेट में इस प्रकार आ जाता है, मानो वह भयजनित उन्माद के मानसिक रोग का शिकार हो गया हो।

अर्जुन के मनोवेगों के दमन के कारणों को कहीं दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है। अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखने वाले एक श्रेष्ठ योद्धा को अपने ही दुष्ट चचेरे भाइयों द्वारा निर्मित अन्यायपूर्ण स्थिति में रहना पड़ा। परन्तु अपने ज्येष्ठ बन्धु युधिष्ठिर की "किसी भी मूल्य पर शान्ति रखने" की नीति के कारण धनुर्धारी अर्जुन अपनी भावनाओं को इस अन्याय के प्रतिकार के रूपमें व्यक्त नहीं कर सका। कुछ अंशों में इन भावनाओं को व्यक्त करने का सुअवसर उसे तब मिला, जब जंगलों में रह कर उसने कठिन तप किया था।

बनवास के अन्तिम वर्ष के अज्ञातवास में पाँडवों को विराट राजा के प्रसाद में दास के वेषमें सेवा करनी पड़ी। जघन्य, अन्यायपूर्ण एवं गरिमाहीन अपमानित जीवन जीने के कारण, निःसन्देह, अर्जुन को अपने मनोवेगों का दमन
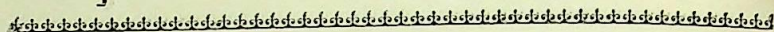
करना पड़ा था। परन्तु जब दुर्योधन की सेनाओं ने राजा विराट पर आक्रमरा किया, तब अर्जुन को अपने मन का क्षोभ निकालने का एक अवसर प्राप्त हुआ था।

दीर्घकाल तक श्रमसाध्य कष्ट और पीड़ा भोगनेके बाद जब पाण्डव राज्य-प्राप्ति के लिये अपने देश पहुँचे, तो उनके दुष्ट भाइयों ने अकारण ही उन्हें उनका अर्ध राज्य नहीं दिया। इतना ही नहीं, वरन् उनसे किसी भी प्रकार का समझौता करने से भी इन्कार कर दिया।

कौरवोंके पिता चतुर अन्धे धृतराष्ट्र ने सम्भवतः अर्जुन की मनःस्थिति को पहचान लिया था और इसलिये युद्ध के एक दिन पूर्व उसने सञ्जय को कुछ गुप्त सन्देश दे कर अपने दूत के रूप में अर्जुन के पास भेजा था। इस दुष्टतापूर्ण सन्देश से अर्जुन के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। उसकी दमित भावनाओं को विपरीत दिशा मिली और युद्ध जैसे अवसर पर वह एक असहाय मानसिक रोगी की स्थिति को प्राप्त हो गया। प्रथम अध्याय में हम देखेंगे कि अर्जुन उन्हीं विचारों को दोहराता है, जिन्हें उसने अपने चाचा से एक दिन पूर्व सुना था।

निर्णायक दिन जब दोनों पक्षों की सेनायें व्यूह रच रही थीं, तब अर्जुन ने अपने रथ-सारथि भगवान् श्रीकृष्ण

से अनुरोध किया कि वे उसका रथ दोनों सेनाओं के मध्य ले चलें, जिससे वह शत्रुपक्ष को ठीक से देख सके। कौरव-पक्ष की सेना संख्या में अधिक, श्रेष्ठतर शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सुप्रसिद्ध सेनापतियों के नेतृत्व में एक चील के रूप में फैली हुई थी, जो पाँडवों की छोटी सेना पर टूट पड़ने के लिये तैयार खड़ी थी। वीर अर्जुन के भी मन को हिला देने वाला कठिन चुनौती भरा यह दृश्य उसके सम्मुख था। इस दृश्य का प्रभाव उसके मन पर कुछ ऐसा पड़ा कि बुद्धि से किसी निर्णय पर वह नहीं पहुँच सका, क्योंकि उसके मन और बुद्धि एक दूसरे से पूर्ण रूपसे वियुक्त हो चुके थे। इसका मुख्य कारण था, अहंकारमूलक व्याकुलता। दमित मनोवेगों की शक्ति को वह सही दिशा नहीं दे सका और धृतराष्ट्र के सन्देश से मोहित, अपने समयका श्रेष्ठ वीर पुरुष अर्जुन अकस्मात् विषाद से भर कर भ्रमित अवस्था में वहीं बैठ गया।

ऐसे मनोरोगी के लिये 'श्रीकृष्णोपचार' एक विशिष्ट प्रकार का निदान था। अन्तिम अध्याय में अर्जुन स्वयं कहता है, "मेरा मोह नष्ट हो गया है"। महाभारत के विद्यार्थियों को शेष कथा ज्ञात ही है कि किस प्रकार पराक्रमी योद्धा अर्जुन स्वस्थ हो कर और नई शक्ति से सम्पन्न हो कर युद्ध करता है।

किसी-न-किसी मात्रा में प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कभी-न-कभी इस 'अर्जुन रोग' का शिकार बनता है और तब गीता-दर्शन के रूप में 'श्रीकृष्णोपचार' उसके रोग के निवारण के लिये सदा उपलब्ध रहता है।

दूसरा अध्याय लगभग समस्त गीताका सार संक्षेप है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण उपचार के दो उपाय बताते हैं। एक सांख्य योग की विधि है। इसमें अर्जुन को अपने मन, अहं और बुद्धि से अधिक ऊँचे सत् की ओर अभिमुख किया गया है। इस उपाय से कुछ मात्रा में मन और बुद्धि के बीच का व्यवधान दूर हो जाता है। इसी अध्याय के उत्तरार्ध में हम देखेंगे कि निष्काम कर्म मनुष्यकी वासनाओं को कैसे नष्ट कर देता है। क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन की बुद्धि रजोगुण की वासनाओं से रञ्जित थी। अतः उनका क्षय करने के लिये अर्जुन को युद्ध-क्षेत्र की आवश्यकता थी।

यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को बार-बार 'उठो और युद्ध करो' की प्रेरणा देते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गीता युद्ध-पिपासु शासक-वर्ग का शास्त्र है।

गीता का आदेश है कि हम सब अपनी वासनाओं (स्वधर्म) के अनुसार अपने क्षेत्रमें संघर्ष करें जिससे हमारी वासनायें नष्ट हों और हमें आन्तरिक शुद्धता प्राप्त हो। समस्त गीता का गहन अध्ययन करने के लिये जब हम एक-एक श्लोक पढ़ेंगे तो हमारी समझ में आ जायेगा कि भगवान् श्रीकृष्ण इसी सत्य को किस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से और विभिन्न शब्दों में बताते हैं।

कृष्ण की दिव्य गीता को,
भुलाया नहीं करते।
जन्म भारत में ले कर के,
कुमलाया नहीं करते॥

—❀❀—

कृष्ण की जो गीता सुनता रहेगा,
गुणों से वो झोलियाँ भरता रहेगा।
जो अहंकार में मनमानी करेगा,
खुदा की कसम वो नादानी करेगा॥

गीतामें भक्ति ज्ञान-समन्वय

—प्रवचनकार—
अनन्त विभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी

(गताङ्क से आगे)

— ❀❀ —

अब बोले कि भाई, यह तो ठीक है, परन्तु भक्ति की प्राप्ति के लिये हम कौन-सा यज्ञ करें, कौन-सा योगाभ्यास करें, कौन-सा स्वाध्याय करें और कौन-सा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करें ? इसका उत्तर है कि ये सब चीजें अभी तुमसे दूर हैं—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥

भक्त कहता है कि हममें धर्मनिष्ठा बिल्कुल नहीं है । न जाने कितनी बार हम झूठ बोलते हैं, दूसरों के माल की बेईमानी करते हैं । कितनी बार हमसे हिंसा होती है, ब्रह्मचर्य का भंग होता है । हममें ढूँढ़ने पर भी पूरी-पूरी
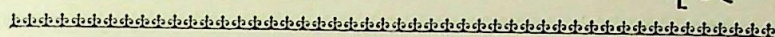
धर्मनिष्ठा मिलनी मुश्किल है। आत्म-ज्ञान है? जब वैराग्य ही नहीं है तो आत्मज्ञान कहाँ से आवेगा? भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति है? नहीं बाबा, हममें नाना आसक्तियाँ भरी हैं—पुत्र की, मित्र की, धन की और न जाने किस-किसकी? तब तुम भगवान् के मार्ग में कैसे चलोगे? भक्त बोला कि देखो, एक विशेषता है हममें। हमारे पास हमारा कुछ है ही नहीं। देखो यहाँ शरणागति का अधिकार! शमदमादि साधन सम्पत्ति होने पर ही ज्ञान के मार्गमें चलना होता है। इस साधन-चतुष्टयको साधन-सम्पदा बोलते हैं। उपनिषद् में आया है कि 'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्'—(माध्यन्दिन बृहदारण्यक ७.२.२८) आत्मज्ञानके लिये श्रद्धा का धन चाहिये। किंतु हम तो दोनों हाथ उठा कर कहते हैं कि हमारे पास कुछ नहीं है। अरे भाई, कोई पोटली-वोटली है? कोई तिजोरी है? कोई बैंक-बैंलेंस है? नहीं-नहीं, कुछ भी नहीं है, हम तो अकिञ्चन हैं। अच्छा तुम्हारे साथ कोई मुनीम होगा वह रुपया लेकर चलता होगा या कोई सेठ-साहूकार होगा जो तुम्हारी मदद करता होगा? भक्त बोला कि नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं, हम तो 'अनन्यगति' हैं, कोई दूसरी गति है ही नहीं।

अब देखो यहाँ शरणागति का अधिकार उपस्थित हो गया। शरणागतिमें दो अधिकार माने गये हैं—अकिञ्चनत्व

श्रौर श्रनन्य-गतित्व। भगवान् आश्रित-सौकर्य-पालन हैं, जो भगवान् की श्रोर चलना चाहे उसके लिये नाव ले कर खड़े रहते हैं—'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, किसी का भरोसा नहीं है, तुम्हें तैरना नहीं श्राता, तुममें गाय की पूँछ पकड़ कर वैतरणी पार करने की सामर्थ्य नहीं है तो श्राओ हमारी गोदमें बैठ जाश्रो, हम तुम्हारा उद्धार करेंगे। यह है भगवान्का 'श्राश्रय-सौकर्य-पालन' श्रौर 'आश्रितकार्य निर्वाह'। वे स्वयं श्रपने श्राश्रित के काम बना देते हैं।

देखो, भगवान् जिसको जन्म देते हैं, उसको श्रपनी प्राप्ति के लिये साधन भी दे देते हैं। जब जीव भगवान् के पास से चलने लगता है तब हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता है कि प्रभो! हम संसारमें जायेंगे तो आपको भूल जायेंगे। इस पर भगवान् कहते हैं कि हम तुम्हारे श्रन्तःकरण में एक चुटकी चूर्ण डाल देते हैं। इसका प्रभाव यह होगा कि जब तक तुम हमारे पास लौट कर नहीं श्राओगे तब तक दुःख तुम्हारा पीछा करेगा। जब तुम लौटना चाहोगे तब हमारे पास पहुँचने के लिये जो उपकरण चाहिये वह मैं तुमको दे देता हूँ। ऐसा कौन-सा उपकरण है भगवन्? श्रापके पास पाँव से चल कर तो श्राना सम्भव नहीं होगा। हाथ भी क्या काम करेंगे? भगवान् बोले कि–'श्ररे जीभ है

तुम्हारे पास ?' यह जीभ भी हमारे पास पहुँचनेका साधन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

जीभ से नाम-संकीर्तन करो। हाथ में केवल करने की शक्ति है, पाँव में केवल चलने की शक्ति है, आँख में केवल देखने की शक्ति है, लेकिन जीभ में बोलने और स्वाद लेने दोनों की शक्ति है। यह अन्य सब इन्द्रियों से विलक्षण है, एक में दो इन्द्रिय हैं। इसी जीभ से मधुर वाणी द्वारा भगवान् के नाम का, गुण का, लीला का संकीर्तन करो— 'संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्ना'—फिर देखो भक्ति कितनी आसान है। किंतु यदि जीभ न हो तो, गूँगे हों तो क्या करें ? बोले कि 'नमस्यन्तश्च माम्'—बार-बार सिर को झुकाओ, प्रणाम करो। बड़ी आसान है भक्ति, जो सिर झुकाने से हो जाती है, मुँहसे बोलने से हो जाती है, हाथ जोड़ने से हो जाती है।

देखो, यहींसे भक्ति शुरु होती है। जहाँ हम हैं वही से साधन प्रारम्भ होता है। जो साधन हमारे पास नहीं है, वह साधन हमारे करनेका नहीं है। हमारे पास जीभ है तो जीभसे साधन करेंगे। हमारे पास आँखें हैं तो आँखोंसे देखेंगे, हमारे पास कान हैं तो कानोंसे सुनेंगे। भगवान् इन सब रास्तोंसे हृदयमें आयेंगे। यह भक्तिकी विशेषता है।

भक्ति माने व्यक्तिके अन्दर भगवान्‌को अभिव्यक्ति देने की शक्ति, भक्ति जीवनमें भगवान्‌को जाहिर करनेकी ताकत है– 'भगवतः अभिव्यञ्जिका शक्तिः।' भक्तिकी यह महिमा है कि जब वह हमारे हृदयमें आती है तो अकेली नहीं आती, भजनीय को लेकर आती है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

श्रीमद्भा० ५. १८. १२

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आ जाती है, उसकी पहचान क्या है? ईश्वर पर आस्था होना, एक अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य अदृश्य-शक्तिके प्रति श्रद्धा-विश्वास होना, उसका ज्ञान होना, उसका स्मरण होना और उसके प्रति प्रेम होना। ऐसी भक्ति के आते ही सब देवता अपने-अपने श्रेष्ठ गुणों को लेकर उस भक्त के पास आ जाते हैं। उससे भेंट करने भी आते हैं और उसको भेंट देने भी आते हैं। 'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' का अर्थ यह भी है कि कान अच्छी-अच्छी बातें सुनने लगते हैं, बुरी बातें नहीं सुनते, आँखें अच्छी-अच्छी चीजें देखने लगती हैं, नासिका अच्छे-अच्छे गन्ध को सूँघती है, जीभ अच्छी वाणी बोलती है, पाँव अच्छी जगह जाता है, हाथ अच्छा काम करता है। हमारे शरीर में जो इन्द्रियरूप

देवता हैं वे सब अपने-अपने सद्गुण धारण करके प्रकट हो जाते हैं, हमारा जीवन सद्गुण-सम्पन्न हो जाता है। हरावभक्तस्य कुता महद्गुणा मनोरथे नासति धावतो बहिः'—जिनके हृदयमें भगवान् की भक्ति नहीं है, उनके जीवनमें महद्गुण कहाँसे आयेंगे ? वे तो पार्टी बन्दी करेंगे जबकि भगवान्में पार्टी बन्दी नहीं है। वह दलका दलदल नहीं है। भगवान् तो सबके आत्मा हैं, सर्वात्मा हैं। ऐसी भक्ति का वर्णन भागवतमें भी है, गीतामें भी है। 'अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा'—भगवान् कहते हैं कि मैं सबके शरीर में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा बन कर बैठा हुआ हूँ।

'अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे' (श्रीमद्भा० ३. २९. २४)—भगवान् हजार मनका भोग लगानेसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे इससे सन्तुष्ट होते हैं कि किसीसे द्वेष मत करो। यह मत कहो कि जो हमारे मजहबमें हमारी जाति में, हमारी पार्टीमें, हमारे दलमें है वह दूधका धुला है और दूसरे सब बुरे हैं। यह बात भक्ति में नहीं होती। भगवान् सबके हृदयमें हैं, सबमें हैं। यही भगवान्का रूप है। इसलिए 'अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।' सबके प्रति मित्रता का भाव होना चाहिए। सबको कुछ-न-कुछ दो, जो बने सो दो, नहीं तो सम्मान करो, मैत्रीका भाव रक्खो। जैसे हमारी आत्मा है वैसे ही दूसरोंकी भी आत्मा है—यह ध्यान रखो।

—**क्रमशः**

(८)

—टीकाकार—

पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

(गताङ्क से आगे)

अज्ञान से ज्ञान ढक गया है इसी से प्राणियों को मोह हो गया है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

गीता—५/१५-१६

अर्थ—वह विभु परमात्मा न तो किसी के पाप को, न किसी के सुकृत को ग्रहण करता है। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढक गया है इसी से जीव मोहित हो जाते हैं।

किन्तु जिनके मन का अज्ञान, ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे उदय होनेपर सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है।

* छप्पय *

विभु विश्वम्भर ब्रह्म जगत में व्यापि रह्यो है।
कहें पुरान महान वेद हू गाइ रह्यो है॥
पुण्य करम नहिं लेइँ न उनकूँ प्रभु स्वीकारें।
ग्रहन पाप नहिं करें न पापिनि जगत निकारें॥
ज्ञान ढक्यो अज्ञान ने, चकाचौंध सबई भये।
मोहित अज्ञानी भये, बौरे मूरख बनि गये॥

शास्त्रों में कौन कर्म करता है, कौन कराता है, इस विषयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। कोई कहते हैं—"सुख-दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं। अपना आप ही अपना मित्र है, अपनी आत्मा ही शत्रु है। 'जैसी करनी वैसी भरनी।' कोई कहते हैं—"सब प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध के अनुसार जैसा सुख-दुःख होनेवाला

होता है, वैसे ही सब साधन उपस्थित हो जाते हैं। भवितव्यता के आगे किसी का चारा नहीं। जैसा होने वाला होता है, मनुष्य हठपूर्वक—इच्छा न रहने पर भी प्रारब्ध-वश—वहाँ पहुँचकर किसी अव्यक्त प्रेरणा से कार्य करने लगता है।"

कोई कहते हैं—"सब कुछ स्वभाव से ही हो रहा है, जिसकी जैसी प्रकृति होती है—जैसा स्वभाव होता है—उसी के अनुसार अपने आप स्वभावानुकूल कार्य में प्रवृत्त होता है, जब लोग कर्म के अधीन होकर कार्य कर रहें हैं। गोप प्रति वर्ष वर्षा के पश्चात् कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रयाग किया करते थे, उनका विश्वास था कि मेघों का स्वामी इन्द्र है, यदि इन्द्र की पूजा करेंगे, तो इन्द्र प्रसन्न होकर अच्छी वर्षा करेगा। जिससे घास तथा अन्न होगा, नदी तालाबों में जल भर जायगा। अन्न को मनुष्य खायेंगे, तृण घास से गौओं का पेट भरेगा, पानीसे सबका जीवन निर्वाह होगा। सदा से इन्द्र को ही पानी दाता मानकर गोप उन्हें पूजते थे। भगवान् श्रीकृष्णजीने जो भी कारण रहा हो इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। उन्होंने गोपोंको कर्मवाद का उपदेश दिया। अपने बाबा नन्दजीसे भगवान् ने कहा— "बाबा तुम क्या इन्द्र की पूजा करते हो, इन्द्र पानी कहाँ से लावेगा, इन्द्र जीवन देनेवाला कौन होता है? प्राणी तो अपने

कर्म के अनुसार ही उत्पन्न होता है और कर्म के अनुसार ही मर जाता है। सुख, दुःख, शोक, भय, मङ्गल तथा अमङ्गल सब कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। मान लो कोई इन्द्र आदि ईश्वर है भी तो वह भी तो कर्मानुसार ही फल देगा। यह थोड़ा ही है कि वह अपनी इच्छा से जिसे जितना चाहे उतना दे दे, यदि वह ऐसी मनमानी-घरजानी करता है, तो उसमें विषमताका दोष आ जायगा। उसका ईश्वरपना समाप्त हो जायगा। इसलिये ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है। जो कर्म नहीं करते, उसकी सहायता ईश्वर भी नहीं करता। जब सब कर्मानुसार ही हो रहे हैं, तो हमें बेचारे इन्द्रसे क्या लेना देना। वे हमारे पूर्वजन्मकृत संसार—प्रारब्ध—को तो बदल ही नहीं सकते। सब कर्मानुसार स्वभाव में—अपनी प्रकृति में—वर्त रहे हैं। कर्मानुसार ही किसी से शत्रुवत्, किसी से मित्रवत्, किसी से उदासीनवत् व्यवहार प्राणी करते हैं। इसलिये कर्म ही प्रधान है। उसे ही चाहे गुरु कहो, उसीको ईश्वर कह लो।"

नन्दजीने पूछा—"तब हमें करना क्या चाहिये ? पूजा किसकी करनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"वर्णाश्रम धर्मके अनुसार कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जिस वर्ण की जिस कर्म द्वारा आजीविका चलती है, उस वर्ण वालों को उसी की
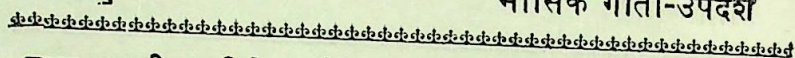
पूजा करनी चाहिये। जैसे ब्राह्मणोंको वेद की पूजा करनी चाहिये, उसी के अध्ययन-अध्यापन रूप कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। क्षत्रिय को पृथ्वी की पूजा करनी चाहिये उसीका पालन-पोषण-संरक्षण करना चाहिये। वैश्यों की व्यापार वाणिज्य से आजीविका चलती है उन्हें लक्ष्मीजीका पूजन करना चाहिये। शूद्रों की सेवा से आजीविका चलती है उन्हें चातुर्वर्ण्य की सेवा रूप पूजा करनी चाहिये। वैश्यों की चार वृत्तियाँ हैं—खेती, व्यापार, गोरक्षा और व्याज। हम केवल गोरक्षा ही करते हैं। शेष तीन काम अन्य वैश्य करते हैं। हमारी गौओं को घास, पानी, ईंधन, लकड़ी, फल-फूल सब यह गिरिराज गोवर्धन देता है। इसलिये इस गोवर्धन पर्वत की ही हम सबको मिलकर पूजा करनी चाहिये।"

यह भगवान् ने निष्काम कर्मयोग न बताकर केवल वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्मयोग की ही शिक्षा दी। कर्म को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया।

कहीं-कहीं कहा गया है—"सब कर्मों का कराने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर जैसा कराना चाहता है, जीव वैसा ही कर्म करता है। जिसे ईश्वर ऊर्ध्वगति देना चाहता है, ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है। जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है। यह
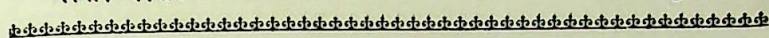
जीव अपने सुख-दुःख के भोग में अस्वतन्त्र है। यह अज्ञानी जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है। यहाँ पर सब कर्तृत्व ईश्वर के मत्थे ही मढ़ दिया है। फिर तो जीव का कोई कर्तव्य ही नहीं रह जाता, किन्तु भगवान् ने आगे गीता में ही कहा है—"यद्यपि जीव हृदयस्थ ईश्वर की ही प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु फिर भी जीवमें भक्ति करने की–शरणमें जाने की–अपनी निजी इच्छा भी है। इसलिये परमशांति की इच्छावाले जीवों को भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये। शरणागति से ही परम शान्ति सम्भव है, किन्तु भगवान् यहाँ एक दूसरी बात कहते हैं। जीव अज्ञानके कारण—मायाके वशीभूत होकर–अविद्या के कारण मोह को प्राप्त होता है। अतः अज्ञान का नाश कर दो ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जायेगा। ज्ञान के आलोक में तुन्हें कौन वस्तु कहाँ पर है अपने आप दिखायी देने लग जायेगी।

बगीचे में फूल खिल रहे हैं, वे नाना रंगों के हैं, किन्तु वहाँ अन्धकार है, हमें सब वस्तुयें दिखायी नहीं देती। एक काली-सी धुन्ध-ही-धुन्ध दृष्टिगोचर हो रही है। जहाँ उस स्थान पर सूर्य का, चन्द्रमा का या अग्नि का प्रकाश फैल गया तो सब फूलों के रङ्ग स्पष्ट दिखायी देने लगेंगे। कौन ग्रहण करने योग्य है, कौन त्याज्य है, यह प्रकाश फैलने पर

ही देखा जा सकता है। अतः बोध के लिये–आत्मज्ञान के लिये–मोहरूपी अज्ञान के नाश के लिये ज्ञानियों-गुरुओं-आचार्यों की शरण में जाना चाहिये। मुख्य कार्य है अज्ञान का नाश। गौ के गोबर के बने कंडे में अग्नि व्याप्त है, किन्तु उसके ऊपर राख जम गयी है, अग्नि दिखाई नहीं देती। तुमको न दीखने वाली अग्नि को प्रकाशित करने के लिये दूसरे स्थानसे अग्नि लानेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस राख को झाड़ दो, उसमें से स्वतः अग्नि अपने आप चमकने लगेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब अर्जुन ने पूछा कि कर्मों में जीव को कौन प्रवृत्त कराता है। तब इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! वास्तविक बात तो यह है, ईश्वर को क्या पड़ी है, कि एक से पाप करावे, दूसरे से पुण्य करावे, एक को ऊर्ध्वगति दे, दूसरे को अधोगति प्रदान करावे। बहुत से जीव पाप करते हैं, बहुत से जीव पुण्य कर्म करते हैं। भगवान् न तो पाप वालों का पाप लेते हैं, न पुण्यवालों के पुण्यको ही ग्रहण करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस जीव को मोह कैसे हो गया? यह मोह में पड़कर ऐसे-ऐसे कर्मों को करता क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जीव में ज्ञान की ज्योति

स्वाभाविक है। तुम चींटी को भी दबाओ तो अपनी रक्षा के लिये तुम्हें काट लेगी। प्राणिमात्रको भले-बुरे का कुछ-न-कुछ ज्ञान रहता ही है। ज्ञान और अज्ञान का जोड़ा है। जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह अज्ञान से ढक जाता है। बस अज्ञान से ढक जाने से ही जीव मोह में पड़कर अण्ट-सण्ट काम करने लगता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस अज्ञानका निवारण कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—'बस इसी का नाम तो साधन है। इसी को तो पुरुषका अर्थ अर्थात् पुरुषार्थ कहते हैं। आत्म-ज्ञान की इच्छा वाले का ही नाम जिज्ञासु है। जीव चार प्रकार के होते हैं, १. नित्य २. मुक्त ३. बद्ध और ४. मुमुक्षु। शास्त्र के उपदेश नित्य जीवों के लिये नहीं हैं, मुक्त तो फिर मुक्त ही ठहरे। बद्ध जीवों के लिये भी शास्त्र के उपदेश नहीं। वे तो बद्ध हैं ही। समस्त उपदेश समस्त साधन मुमुक्षु जीवों के ही निमित्त है। अतः मुमुक्षु पुरुषको अज्ञान के हटाने का प्रबल प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश अपने आप हो जायगा। चारों ओर अन्धकार व्याप्त है आप जलती हुई मसाल लेकर आओ, तो आपको डण्डा मारकर अन्धकार को भगाना नहीं पड़ेगा। अन्धकार वहाँ का वहीं अपने आप स्वतः ही नष्ट हो जायगा। आप मसाल लेकर कोने-कोने में खोजो,

तुम्हें कहीं भी छिपा हुआ अन्धकार दिखाई न देगा। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने पर अज्ञानका लोप अपने आप हो जायगा। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषके सम्मुख यह ज्ञान सूर्य के समान आत्मतत्त्वको प्रकाशित कर देगा। उसे अपने स्वरूप का स्वतः ही बोध हो जायगा।'

अर्जुनने पूछा—"भगवन् ! हम कैसे जाने इसे आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो गया है। उनकी वृत्ति कैसे हो जाती है, उन आत्मज्ञानी पुरुषके सम्बन्धमें हमें बतानेकी कृपा करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! अर्जुनने जब आत्मज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान्‌ने जैसे आत्म-ज्ञानी के लक्षण बताये उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

*** छप्पय ***

जिनिको यह अज्ञान आतमा तत्व ज्ञान तैं।
ह्वै जावै जब नष्ट दूर हो मोह मान तैं॥
है अज्ञान अनादि सिद्ध तिहि ज्ञान भगावै।
है प्रबोध ततकाल नहीं मोहित कहलावै॥
ज्ञान सूर्य जब उदित ह्वै, तम अज्ञान मिटाइ कें।
बोध यथार्थ कराइकें, सब कछु देइं दिखाइकें॥

—क्रमशः

— ** —

—रचयिता—

परम वन्द्य स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज

—❀❀—

व्यास भारत मात की तू शान है।
आँख वालों को तेरी पहचान है॥

(१)

तूने वेदों और पुराणों को रचा,
गीता तेरी मोतियों की खान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(२)

हर में 'हर' को दिखाती यह गीता,
गीता तेरे ज्ञानियों की जान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(३)

देही नश्वर आत्मा ही है अमर,
गीता माता का यही तो गान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(४)

'अनहलक' का गान गाता है वही,
जिसको गीता सार की पहचान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(५)

गीता-सा ग्रन्थ कोई जग में नहीं,
देन भारत को तेरी यह महान् है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(६)

अज्ञानता में तेरे बच्चे मर रहे,
जबकि भारत मात का तू भान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।

(७)

दादा ! तुझको पुकारें भारत के लाल,
भारतीय संस्कृति की तू जान है।
व्यास भारत मात की तू शान है।
आँख वालों को तेरी पहचान है॥

क्या आप जानते हैं

– कि –

१. भगवान् वेदव्यासजीका प्रारम्भिक नाम श्रीकृष्ण-द्वैपायन था।

२. भगवान् वेदव्यासजीका अवतार द्वापर युगमें हुआ था।

३. महर्षि वेदव्यासजी के पिता महर्षि पराशर थे।

४. महर्षि वेदव्यासजीकी माताका नाम सत्यवती था।

५. महर्षि वेदव्यासजी की अर्धांगिनी ज्वालिमुनि की कन्या वटिका थी।

६. मन के राजा और सिर के ताज महर्षि व्यास ने शुकदेव लाल देकर संसार को त्याग और ज्ञानका संदेश दिया।

७. महर्षि वेदव्यास ने ऋक्, यजुर, साम, तथा अथर्व वेदों को संशोधित रूप में उपस्थित किया।

८. महर्षि व्यास ने एक लाख श्लोकों में 'महाभारत' की रचना की, जो पाँचवाँ वेद माना जाता है।

९. हृदयेश व्यास ने १. ब्रह्मपुराण, २. पद्म पुराण, ३. विष्णु पुराण, ४. शिव पुराण, ५. भागवत-पुराण ६. नारद पुराण, ७. मार्कण्डेय पुराण,

८. अग्नि पुराण, ९. भविष्य पुराण, १०. ब्रह्म-वैवर्तपुराण, ११. लिंग पुराण, १२. वाराह पुराण, १३. स्कन्द पुराण १४. कूर्म पुराण, १५. मत्स्य पुराण, १६. वामण पुराण, १७. गरुड़ पुराण १८. ब्रह्मांड पुराण नामक अठारह पुराणों की रचना की ।

१०. महर्षि व्यासने उपनिषदोंके गूढ़ रहस्योंको 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'वेदान्त दर्शन' में सरल कर दिया ।

११. 'श्रीमद्भगवत् गीता' महाभारत का एक अध्याय मात्र है जिसमें ७०० श्लोक हैं ।

१२. महर्षि के परम शिष्य थे—
पैल, जैमिनि, वैशम्पायन, सुमन्तु, रोमहर्षण तथा शुकदेव ।

गीता में भक्ति योग
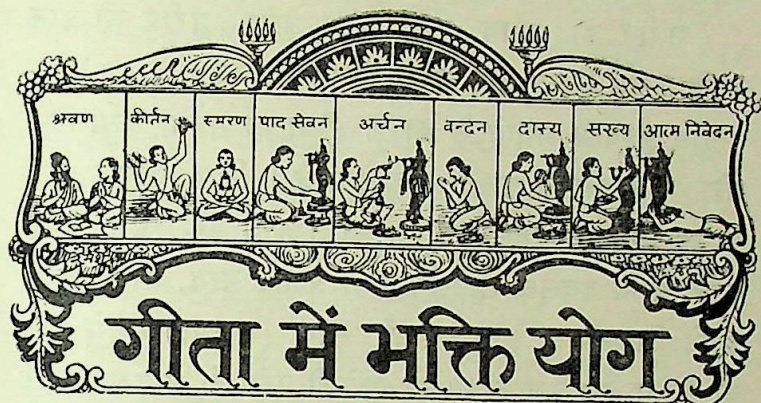
(श्रीगीताजी के पन्द्रहवें अध्याय की विस्तृत व्याख्या)

—व्याख्याकार—

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी

(गताङ्क से आगे)

सम्बन्ध—

पिछले तीन श्लोकों में जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया। उस विषय का उपसंहार करने के लिये इस श्लोक में 'जीवात्मा के स्वरूप को कौन जानता है और कौन नहीं जानता'—इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

भावार्थ—

शरीर का त्याग करते समय, अन्य शरीर को प्राप्त करके उसमें स्थित होते समय (स्वयं निर्लिप्त होते हुए) भी गुणोंसे सम्बन्ध मानने के कारण जीवात्मा मरने, जन्म लेने और भोग भोगने वाला कहलाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं तो वही रहता है; परन्तु कार्य, परिस्थिति, देश, काल आदि बदलते रहते हैं, इसी प्रकार मृत्यु, जन्म, भोग आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी 'स्वयं' (आत्मा) सबमें एक ही रहता है। इस रहस्य को विवेकी पुरुष ही ज्ञानरूप नेत्रों से देखते हैं। साँसारिक भोग और संग्रह में लगे हुए मोह-ग्रस्त पुरुष इस रहस्य को नहीं देख पाते, क्योंकि भोगों से परे उनकी बुद्धि जाती ही नहीं।

अन्वय—

उत्क्रामन्तम्, वा, स्थितम्, वा, भुञ्जानम्, अपि, गुणान्वितम्, विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः, पश्यन्ति।

पद-व्याख्या—

उत्क्रामन्तम्—शरीर को त्याग कर जाते हुए।

स्थूल शरीर को छोड़ते समय जीव सूक्ष्म एवं कारण शरीर को साथ ले कर प्रस्थान करता है। इसी क्रिया को

यहाँ 'उत्क्रामन्तम्' पदसे कहा है। जब तक हृदयमें धड़कन रहती है तब तक जीवका प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदय की धड़कन बन्द हो जाने के बाद भी जीव कुछ समय तक रह सकता है। वास्तव में अचल होने से शुद्ध चेतन-तत्त्व का आवागमन नहीं होता। प्राणों का ही आवागमन होता है। परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध रहने के कारण जीव का आवागमन कहा जाता है।

आठवें श्लोक में ईश्वर बने जीवात्मा के विषय में आये 'उत्क्रामति' पदको यहाँ 'उत्क्रामन्तम्' नामसे कहा गया है।

वा स्थितम्—अथवा स्थित हुए अर्थात् दूसरे शरीरको प्राप्त हुए।

जिस प्रकार कैमरे पर वस्तु का जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। इसी प्रकार मृत्यु के समय अन्तःकरण में जिस भाव का चिन्तन होता है, उसी आकार का सूक्ष्म शरीर बन जाता है। जैसे कैमरे पर पड़े प्रतिबिम्ब के अनुसार चित्र के तैयार होने में समय लगता है, वैसे ही अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार भावी स्थूल शरीर के बनने में (शरीरके अनुसार कम या अधिक) समय लगता है।

आठवें श्लोक में जिसका 'यदवाप्नोति' पद से वर्णन हुआ है, उसी को यहाँ 'स्थितम्' पद से कहा गया है।

वा भुञ्जानम् अपि—अथवा विषयोंको भोगते हुए भी।

मनुष्य जब विषयों को भोगता है, तब अपने को बड़ा सावधान मानता है और विषय-सेवनमें सावधान रहता भी है। विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन एक-एक विषय को अच्छी तरह जानता है। अपनी जानकारी से एक-एक विषय को भी बड़ी स्पष्टता से वर्णन करता है। इतनी सावधानी रखने पर भी वह 'मूढ़' ही है; क्योंकि विषयों के प्रति यह सावधानी किसी काम की नहीं, अपितु मरने पर नरकों और नीच योनियोंमें ले जाने वाली है।

परमात्मा, जीवात्मा और संसार—इन तीनोंके विषय में शास्त्रों और दार्शनिकों के अनेक मतभेद हैं; परन्तु जीव आत्मा संसार के सम्बन्ध से महान् दुःख पाता है और परमात्मा के सम्बन्ध से महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता—यह अकाट्य नियम है। संसार क्षणभंगुर है—यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसार को स्थिर मानते हैं। भोग-सामग्री, भोक्ता एवं भोगरूप क्रिया—इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्यकी बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह 'इन भोगों से बढ़ कर कुछ है ही नहीं'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है। इसीलिये ऐसे

पुरुषों के ज्ञाननेत्र बन्द ही रहते हैं। वे मौत को निश्चित जानते हुए भी मदिरा-मदान्धकी तरह भोग भोगने के लिये (मरने वालों के लोक में रहते हुए भी) सदा जीते रहने की इच्छा रखते हैं।

'अपि' पद का भाव है कि जीवात्मा जिस समय स्थूल शरीर से निकल कर(सूक्ष्म एवं कारण शरीर सहित)जाता है, दूसरे शरीर को प्राप्त होता है तथा विषयों का उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओं में गुणोंसे लिप्त दीखने पर भी वास्तवमें वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न 'उत्क्रमण' है, न 'स्थिति' है और न 'भोक्तापन' ही है। इसीलिये गीता में अन्यत्र कहा गया है कि शरीर में रहते हुए भी जीवात्मा न कुछ करता है और न लिप्त होता है—

शरीस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

(गीता—१३. ३१)

'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता—१३.२२)

पिछले श्लोक के 'विषयानुपसेवते' पद को ही यहाँ 'भुञ्जानम्' पद से कहा गया है।

गुणान्वितम्—गुणों से युक्त हुए को।

यहाँ 'गुणान्वितम्' पद का तात्पर्य यह है कि गुणों से
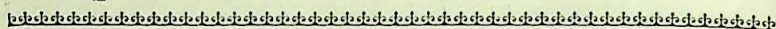
सम्बन्ध मानते रहने के कारण ही जीवात्मा में पूर्ववर्णित उत्क्रमण, स्थिति और भोग—ये तीनों क्रियायें प्रतीत होती हैं।

वास्तव में जीवात्मा का गुणों से सम्बन्ध है ही नहीं। भूल से ही इसने अपना सम्बन्ध गुणों से मान रक्खा है, जिसके कारण इसे बारम्बार ऊँच-नीच योनियों में जाना पड़ता है। गुणों से सम्बन्ध जोड़े-जोड़े जीवात्मा संसार से सुख चाहता है—यह उसकी भूल है। सुख लेने के लिये शरीर भी अपना नहीं है, अन्य की तो बात ही क्या है!

मनुष्य मानो किसी-न-किसी प्रकार से संसार में ही फँसना चाहता है। व्याख्यान देने वाला व्यक्ति श्रोताओं को अपना मानने लग जाता है। किसी का भाई-बहन न हो, तो वह धर्म का भाई-बहन बना लेता है। किसी का पुत्र न हो, तो वह दूसरे का बालक गोद ले लेता है। इस प्रकार नये-नये सम्बन्ध जोड़ कर मनुष्य चाहता तो सुख है; पर पाता दुःख ही है। इसी बात को भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूप से गुणातीत होते हुए भी 'गुणों (अथवा देश, काल, व्यक्ति, वस्तु) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाता है।'

इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये 'प्रकृतिस्थानि' पद को ही यहाँ 'गुणान्वितम्' पद से कहा गया है।

—❀❀—

क्रमशः

गीता में पुनर्जन्म

(४३)

—लेखक—

ब्रह्मचारी श्रीवेदान्तानन्दजी

(गताङ्क से आगे)

जैसे सतोगुणी तथा रजोगुणी स्वभाव वाले लोगों की गति का वर्णन किया गया है इसी प्रकार तमोगुण से सन्नद्ध तमोगुणी मानव की मृत्यु के पश्चात् क्या दुर्गति होती है ? गीतागायक लोकनायक अपनी अमर वाणी गीता-भगवती में इस प्रकार निरूपण करते हैं—

* तमोगुण में दुर्गति *

तथा प्रलीनः तमसि मूढयोनिषु जायते ।

गीता— १४/१५

अर्थ—तमोगुण में लीन हुआ मानव मूढ़ योनियों का शिकार बन जाता है अर्थात् मूढ़ योनियों में पुनर्जन्म ग्रहण करता है ।
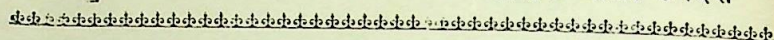
—अर्थात्—

तमोगुण में मर कर जो ज़िन्दों में आयें,
दरिन्दों, परिन्दों, चरिन्दों में आयें।

हमारे परम वन्द्य गीता-रहस्यकार तमोगुणी जीव की गति का वर्णन करते हुए समझाते हैं कि सतोगुण और रजोगुण की वृद्धि वाले पुरुषोंकी सद्गति और गति होती है परन्तु तमोगुण की प्रबलता में प्राण-त्याग करने वाले लोगों की न तो गति होती है, न सद्गति परन्तु उनकी दुर्गति होती है। आशय यह कि ऐसे दुर्भाग्यशाली मानव का अधःपतन हो जाता है, देवदुर्लभ मानव-देहसे भी उसे हाथ धोने पड़ते हैं। इस अधःपतन किंवा दुर्गति का कारण उसके अपने अशुभ निश्चय, अशुभ चिन्तन, अशुभ कर्म ही होते हैं।

प्रियवर ! जब तमोगुणी जीव में अज्ञानता एवं प्रमाद का प्रवाह तीव्र गति से प्रवाहित हो रहा होता है तो इसे तामस अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है। तमोगुण की वृद्धि में मानव की बुद्धि पर मल, विक्षेप और आवरण के दोष पूर्ण गहन एवं स्थिर हो जाते हैं। इस निकृष्टावस्था में मानव से मानवीय कर्म न हो कर दानवीय या पाशविक कर्मों का ही सम्पादन होता है। सच पूछो तो उनका जीवन पशुतुल्य होता है। ऐसे व्यक्तियों को ही भू-भार की संज्ञा दी गई है। किसी का भला तो क्या, वह

अपना भला भी नहीं सोच सकते, करना तो बहुत दूर की बात रही। इसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य दूसरों का अनिष्ट व बुरा करना ही होता है। प्रकृति का अटल नियम है कि जो दूसरोंका बुरा करता है, दूसरोंको हानि पहुँचाता है, दूसरों को दुःखी, हताश, निराश एवं ग़मगीन देखना चाहता है उसका अपना भी बुरा ही होता है, प्रतिक्रिया रूप में उसकी अपनी हानि होती है, उसे न दिन चैन होता है न रात। उसके चेहरेकी हवाइयाँ उड़ी रहती हैं। तमोगुणी जीव कविकी उच्च स्वरसे प्रेषित की हुई इस शिक्षाप्रद ध्वनि से पूर्ण अनभिज्ञ रहता है—

बुराई कर बुरा होगा, भलाई कर भला होगा।
कोई देखे न देखे पर ख़ुदा तो देखता होगा॥

सचमुच, ऐसे अज्ञानी, प्रमादी, विलासी, नाना प्रकार के नशों में चूर तामसी मानव प्राण त्यागता है अर्थात् स्थूल शरीर से मन, इन्द्रियाँ और प्राणों सहित जीवात्मा का सम्बन्ध-विच्छेद होता है तो वह अनमोल मानव-देही को न पा कर नाना प्रकार की मूढ़ योनियों को प्राप्त होता है। यथा—कीट-पतंग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि। आह, कितना भयानक पतन है यह! कितनी दुःखद घटना है यह!! इन भोग-योनियों में पुनः-पुनः जन्मता व मरता हुआ जीव अकथनीय व असहनीय दुःखों, क्लेशों और संवेदनाओं को

भोगता है ।

गीतावक्ता भगवान्‌जीने बड़े ही कम्पायमान एवं हृदय-विदारक शब्दोंमें ऐसे अधम एवं आसुरी प्रकृति वाले लोगों का निरुपण इस प्रकार किया है, जिसे सुन कर या पढ़ कर रौंगटे खड़े हो जाते हैं—

आसुरीम् योनिम् आपन्नाः मूढ़ाः जन्मनि जन्मनि ।
माम् अप्राप्य एव कौन्तेय ततः यान्ति अधमाम् गतिम् ।।

गीता—१६/२०

अर्थ—हे अर्जुन ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म से आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त हो कर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं ।

—अर्थात्—

शिकम में शयातीं के हो कर मकीं,
ये बहके हुए मुझ तक आते नहीं ।
ये अर्जुन जन्म पर जन्म पायेंगे,
ये गिरते ही गिरते चले जायेंगे ।।

उपरोक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव की गति त्रिगुणों के आधार पर होती है । तमोगुणी अधम योनियों में जन्म ग्रहण करता है रजोगुणी का कर्मकाण्डियों के यहाँ पुनर्जन्म होता है और सतोगुणीका दिव्य प्रकाशमय

एवं सात्त्विक लोकों में सिद्ध पुरुषों का शिवकारी सम्पर्क प्राप्त होता है। इस प्रसङ्ग में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन तीन गुणोंके अधीन किसी की सद्गति होती है, किसी की गति तथा किसी की दुर्गति परन्तु परम गति किंवा मोक्ष की प्राप्ति किसी को नहीं हो पाती। यह बात ठीक है कि राजसिक तथा तामसिक गतियोंसे सात्त्विक गति श्रेष्ठ है परन्तु बन्धन तो फिर भी रहता है। जहाँ रजोगुण तथा तमोगुण मानवको बाँधता है वहाँ सतोगुण भी बाँधता है। हम ऐसे कह सकते हैं कि रजोगुण तथा तमोगुण लोहे की सुदृढ़ ज़ञ्जीरों से बाँधते हैं और सतोगुण कोमल सोनेकी ज़ञ्जीरों से। हमारे अपूर्व पथ-प्रदर्शक सर्वलोक महेश्वर गीताकार भगवान्‌जी ने बहुत दार्शनिक एवं मार्मिक विधि से मायिक गुणों के बन्धन का निरुपण किया है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ गीता—१४/५

अर्थ—हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बाँधते हैं।

—अर्थात्—

प्रकृति के तीन गुण सत्, रज तमो हैं वीर जो।
बाँध लेते हैं वे देह में इस अभिमानी जीव को॥

ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवें अध्याय में सर्वज्ञ भगवान्‌जी इस त्रिगुणमयी माया से मोहित मानव की दुर्दशा को देख कर मानो सर्द आह भर कर कह रहे हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

गीता—७/१३

अर्थ—गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकार के भावों से यह सब संसार मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी को तत्त्व से नहीं जानता ।

—अर्थात्—

इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है ।
जाने न अव्यव तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥

निःसन्देह, कोई विरला ही ऐसा श्रेष्ठ पुरुष इस संसार में दृष्टिगोचर होता है जो इन गुणों के बन्धन से छूटा हुआ परम पिता परमात्मामें एकाकारिता स्थापित किये हुए है । वरन् सभी लोग इन गुणोंके अधीन हो कर इन गुणों द्वारा संस्कार रूप में बन्धे हुए हैं और बार-बार जन्म-मरण के असह्य एवं असाध्य दुःखों का शिकार होते रहते हैं। गीता-वक्ता भगवान्‌जी ने स्वयं सांकेतिक रूपमें अपनी दिव्य वाणी श्रीगीताजी में इस भाव को व्यक्त किया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

गीता—७/३

—अर्थात्—

हज़ारों में होगा कोई ख़ाल-ख़ाल,

हो जिसको फ़िकर-ए हसूल-ए कमाल ।

उल्लेखनीय है कि इन तीन गुणों को वही उलाँघ सकता है, इन तीन गुणों का शिकार होने से वही बच सकता है, इन तीनों गुणोंके बन्धन से वही मुक्त हो सकता है, इस त्रिगुणमयी माया से वही स्वतन्त्र हो सकता है जो अपना मन सब ओर से खींच कर त्रिगुण बनाने वाले सर्वेश्वर परमेश्वर के श्रीचरणों में युक्त कर देता है । बात भी ठीक है कि किसी के घर के बाहर बैठा हुआ कुत्ता आपको काट खायेगा यदि आप अकेले उस घर में प्रवेश करेंगे । परन्तु यदि उस घर के मालिक के साथ जाते हैं या उस घर में प्रवेश करते हैं तो कुत्ता आपको कुछ भी नहीं कहेगा । काटना तो दूर की बात रही, वह आपके पैरों में लोटपोट हो जायेगा, अपनी पूँछ हिलायेगा, मानो वह आपका प्रेमपूर्वक स्वागत कर रहा है और आपके आने का धन्यवाद कर रहा है ।

—ठीक इसी प्रकार—

यह संसाररूपी विशाल घर सर्वव्यापी भगवान्‌जी का
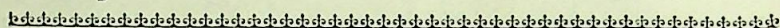
है। त्रिगुणमयी मायारूपी कुत्ते का यहाँ पहरा है। यदि आप इस नश्वर संसार के नश्वर प्राणी-पदार्थों किंवा दुःख-दायी संसार के दुःखदायी विषय-भोगों में इस संसार के मालिक, स्वामी भगवान्‌जी के बिना या सृष्टि के स्रष्टा को भुला कर इनकी उत्कट अभिलाषा में रसास्वादन या प्रयोग करने के लिये प्रवेश करते हैं तो यह त्रिगुणमयी माया का भयानक कुत्ता आपको अवश्य काट खायेगा, आपको जन्म-मरण के चक्र में डाल देगा। सत्य तो यह है कि कुत्ते का काटा हुआ कुछ दिनों या महीनों में ठीक हो जाता है परन्तु त्रिगुणमयी मायारूपी कुत्ते के काटने से मानव जन्म-जन्मान्तर तक ठीक नहीं हो पाता। हाँ, यदि हम इस विचित्र संसार के रचयिता भगवान्‌जी के साथ अर्थात् ईश्वर-भक्ति में लीन हो कर ईश्वर-स्मरण में युक्त हो कर संसार में प्रवेश करेंगे, संसार के पदार्थों का प्रयोग करेंगे, संसार में व्यवहार करेंगे तो ये गुण बन्धनकारी नहीं रहते। इसीलिये गीता-उपदेष्टा भगवान्‌जी ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि मुझे भुला कर मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद कर के मानव कभी भी इस त्रिगुणमयी माया से बच नहीं सकता, इस भवसागर से पार उतर नहीं सकता, पुनर्जन्म के चक्कर से नहीं बच सकता। यहाँ तक कह दिया था कि यह मेरी गुणमयी दिव्य माया दुस्तर है—

दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । गीता—७/१४

—अर्थात्—

त्रिगुणमयी मेरी माया तो बड़ी दुस्तर है ।

परन्तु इतने शब्द कहनेसे तो भगवान्‌जी पर बहुत बड़ा आक्षेप आता है कि उन्होंने त्रिगुणमयी माया बनाई ही ऐसी है, जिसे पार करना कठिन है तो फिर हम कैसे इस मायासे स्वतन्त्र हो सकते हैं, फिर हम कैसे इन गुणोंसे छुटकारा पा सकते हैं ? प्रियवर ! भगवान्‌जी तो ठहरे सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वज्ञानसम्पन्न । अकारणकरुणावरुणालय भगवान्‌जी जहाँ यह स्वीकार करते हैं कि इस त्रिगुणमयी माया को पार करना नाकों चने चबाना है वहाँ उससे मुक्त होनेका, उससे दामन छुड़ाने का सरल साधन अनन्य भक्ति का भी उन्होंने प्रतिपादन किया है । अनन्य भक्ति द्वारा मानव भगवान् के दिव्य दर्शनों का अधिकारी बन जाता है । गीतागायक लोकनायक भगवान्‌जी ने उपरोक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में ही जहाँ यह घोषणा की—

कहाँ इससे इन्साँ कभी पार हों ।

वहाँ इसी श्लोकके उत्तरार्द्ध में सर्वसमर्थ भगवान्‌जी यह भी कह रहे हैं—

माम् एव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते ।

गीता—७/१४

—अर्थात्—

फ़क़त पार मेरे परस्तार हों ।

गीता-प्रेमी पाठकों को यह भली प्रकार स्मरण होगा कि गुणत्रयविभागयोग नामक चतुर्दशोऽध्याय में प्राणीमात्र के प्रतिनिधि के रूप में अर्जुन ने सर्वज्ञ भगवान्‌जी से जहाँ ये दो प्रश्न किये हैं कि गुणातीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है वहाँ तीसरा यह प्रश्न भी किया—"हे प्रभो! इन तीन गुणों से किस दिव्य उपायसे मनुष्य गुणातीत हो सकता है, किस शिवकारी साधन से साधक अपनी साधना को चरम सीमा तक पहुँचा कर गुणों के बन्धन से छूट जाता है।"

'कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।' गीता – १४/२१

—अर्थात्—

वो तीनों गुणों से हो क्योंकर रिहा ?

प्रत्युत्तर में हमारे जगत्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने अव्यभिचारिणी किंवा विशुद्ध भक्ति के प्रसङ्ग द्वारा बड़ा सुन्दर तथा मनःआकर्षक उत्तर दे कर उपरोक्त भावों को और भी सुस्पष्ट कर दिया—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

गीता—१४/२६

· अर्थ—जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूपयोग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है वह इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार से उल्लङ्घन कर के सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिये योग्य होता है।

-अर्थात्-

जो ख़ादिम मिरा ही परस्तार है,
जो मेरी ही भक्ति में सरशार है।
हो तीनों गुणों से न क्यों पार वो,
है वस्ल-ए ख़ुदा का सज़ावार वो॥

गुणों से ऊपर उठ कर परम पद की प्राप्ति हेतु दयालु-कृपालु भगवान्‌जी ने केवल एक ही शर्त रखी है—वह है अव्यभिचारिणी भक्ति। जिसका अभिप्राय है कि केवल एक सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी भगवान्‌जी को ही अपना स्वामी मान कर अन्तःकरणको स्वार्थ और अभिमान से सर्वथा रिक्त अर्थात् खाली कर के श्रद्धा और भाव के सहित परम प्रेम से निरन्तर प्रभु-चिन्तन करना। इसे ही गीताचार्य भक्तियोग के नाम से सम्बोधित करते हैं।

अतः गुणों के अधीन शरीर त्यागना तो पुनर्जन्म को प्राप्त होना है। यह सत्य है कि तमोगुण से रजोगुणमें प्राण छोड़ने वाले प्राणी की गति अच्छी है और रजोगुण से

सतोगुण में देह त्याग करना श्रेष्ठ है। सतोगुण से सद्गति हो सकती है परन्तु परम गति किंवा अव्यय पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्येक गीता-मननशील पाठक को आवागमन के अद्भुत एवं संवेदनापूर्ण चक्कर से मुक्त होने के लिये यथाशक्ति यथामति त्रिगुणातीत होने का भागीरथ पुरुषार्थ करना होगा, करना ही होगा।

त्रिगुणातीत मानव का पुनर्जन्म नहीं होता। वह सदा-सर्वदा के लिये परम पिता परमात्मा के आनन्द स्वरूप में एकमेक हो जाता है। गूँजने दो गीतावक्ता भगवान्‌जी के ये अनमोल शब्द—

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।

गीता—१४/२६

—अर्थात्—

तीनों गुणों से पार हो कर ब्रह्म को पाता वही।

सर्वव्यापी सर्वसमर्थ भगवान्‌जी के श्रीचरणों में यही हार्दिक प्रार्थना है कि हम उनके कथनानुसार सतो, रजो और तमोगुण से अतीत हो कर जीवन-यापन कर सकें, ताकि पुनर्जन्म की अनोखी घटना पुनः न घटित होने पाये।

—क्रमशः

—❀❀—

गीता-प्रश्नोत्तरी

—लेखक—

परम वन्द्य स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज

—❀❀—

प्रश्न—यथार्थ रूपमें 'कुरुक्षेत्र' का हमें क्या अभिप्राय समझना चाहिये ?

उत्तर—शाब्दिक रूप में 'कुरुक्षेत्र' का अभिप्राय है—'कर्म करने की भूमि' अर्थात् जहाँ हम प्रतिदिन कर्म करते हैं। यथा—परिवार में, बाजार में, दुकान में, कार्यालय (दफ़तर) में, पाठशाला में, न्यायालय में—इन सब स्थानों को 'कुरुक्षेत्र' ही समझना चाहिये।

प्रश्न—यथार्थ रूपमें 'पाण्डव-सेना' और 'कौरव-सेना' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रायः साधारण मनुष्य के मनमें दो प्रकार की

वृत्तियाँ सदा-सर्वदा काम कर रही हैं । वे हैं—

(क) शुभ वृत्तियाँ

(ख) अशुभ वृत्तियाँ

—अर्थात्—

(क) विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, दया, मित्रता, भक्ति, कर्म, सहानुभूति, क्षमा, अहिंसा, सरलता, सत्यता, पवित्रता, निर्भयता, वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, कीर्तन आदि—ये शुभ वृत्तियाँ हैं और मनुष्य के मन में रहने वाली ये शुभ वृत्तियाँ ही यथार्थ रूप में पाण्डव सेना समझनी चाहिये ।

(ख) अज्ञान, दम्भ, घमण्ड, काम, क्रोध, मोह, लोभ, वैर-विरोध, कठोरता, निन्दा आदि—ये सब अशुभ वृत्तियाँ हैं और यही मानसिक 'कौरव सेना' समझनी चाहिये ।

प्रश्न—साधकको यथार्थ रूपमें कृष्ण और अर्जुन शब्दों का क्या अर्थ समझना चाहिये ?

उत्तर—'अर्जुन' शब्दका अभिप्राय साधारण मनुष्यके 'मन' से है तथा 'कृष्ण' से अभिप्राय मनुष्य के अन्तर्यामी भगवान् से है—जो उसे पग-पग पर शुभ मन्त्रणा या राय देते हैं ।

प्रश्न—उस समय का अत्यन्त प्रसिद्ध तथा निडर वीर

अर्जुन सेना को देखकर दुःखी क्यों हो गया था ?

उत्तर–अज्ञानता के कारण मनुष्य के मन में 'मैं' और 'मेरा'–ये ममत्व के भाव धीरे-धीरे करके बढ़ने लगते हैं। समय पाकर ये एक विशाल रूप धारण कर लेते हैं। इसी बढ़े हुए भाव को हमारे महापुरुष 'मोह' या रग़बत कहते हैं।

ज्ञान के न होने से साधारण मनुष्य का मन संसार की उस वस्तु तथा सम्बन्धी के साथ राग (मोह) करने लगता है जिससे यह अपने जीवन में सुख-शान्ति की पूर्ण आशा रखता है परन्तु जिस वस्तु या सम्बन्धी से इसे सुख-प्राप्ति की ज़रा-भर भी सम्भावना नहीं होती, उसे अपने प्रतिकूल समझता हुआ 'द्वेष' (नफ़रत) करने लगता है। बस, इसी राग और द्वेषका दूसरा नाम ही तो 'माया' है। अतः जब किसी भी मनुष्य का मन माया के अधीन हो जाता है तो फिर उसे शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान ही नहीं रहता। इस बेचारे की 'विवेक-शक्ति' माया के आवरणमें ढक जाती है। इस विवेक-शक्ति के न रहने से मनुष्य आभ्यान्तरिक (भीतरी) रूपसे अन्धा हो जाता है।

निःसन्देह, कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आने से पहले भी वीरवर अर्जुन ने कई युद्ध किये और अनेक वीरों के बुरी

तरह दाँत खट्टे किये। इसी एक निडर अर्जुनने ही हज़ारों का मुकाबला करते हुए उन सबके छक्के छुड़ा दिये। परन्तु ऐसा शेर-ए दिल अर्जुन कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आकर क्यों भयभीत होकर दुःखी हो गया और बालकों की तरह आँसू बहाने लगा? निःसन्देह, विचारवान् मनुष्य के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठने लगता है।

प्यारे गीता-प्रेमी! शारीरिक बल से भी कहीं अधिक मोह-बल समझना चाहिये। इस राक्षस मोह ने बड़े-बड़े सूरमों, वीरों, दिलेरों तथा विचारवानों को बात-ही-बातमें परास्त कर दिया है। माने-परमाने हुए पहलवानों ने मोह रूपी राक्षस के सामने घुटने टेक दिये हैं। कितना आश्चर्य है! जो हज़ारों मनुष्यों को अकेले ही छटी का दूध याद करा देने की महान् शक्ति रखते हैं, वे मोह को देखते और स्पर्श करते ही भीनी बिल्ली बनकर बैठ जाते हैं!

बस, इसी मोह की वृत्ति के जाग पड़ने से अर्जुन जैसा सूरमा सुध-बुध भुला बैठा। यहाँ तक होश को खो बैठा कि अनधिकार चेष्टा करते हुए बन बैठा कृष्ण का वकील और बे-सिर-पैर (बेतुकी) की दलीलें देने लगा। अजी, ये हैं मोह के दाओ-पेच!

वाह रे भोले अर्जुन —

जिस गुल-ओ बे-रङ्ग-ओ बू को,
गुलसिताँ समझा है तू ।
आह, दिल-ए नादाँ ! कफ़स को,
आशियाँ समझा है तू ॥

ओ मन ! सुन रख—

'मैं' 'मैं' बुरी बलाय है, सको तो निकसो भाग ।
कह कबीर कब लग छुपे, रूई लपेटी आग ॥

— क्रमशः

इस गीता वाणी के मित्रो ! ज्ञान के सदके,
जिसने यह बनाई, उस भगवान् के सदके ।
उस कृष्ण पे कुरबान, लब-ए फ़रमानके सदके,
हर बोल है इक शोला, इस एहसानके सदके ॥

मेरी गीता से अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं है,
सारे जहाँ में ऐसा कोई रत्न नहीं है ।
हमें नाज़ है गीता पे झूठी लग्न नहीं है;
कहीं और ऐसी शिक्षा दिलका अमन नहीं है ॥

लेखक—श्रीरमेशजी

(गताङ्क से आगे)

(११)

—❀❀—

अपने मन पर विजय प्राप्त करके प्रकृतिजन्य तीनों गुणों का अतिक्रमण करते हुए गुणातीत बननेकी आकांक्षा रखने वाले साधक को मन की उन समस्त सूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं आकर्षणों का विशेष रूप से निरीक्षण करना चाहिये, जिनके माध्यम से मन वस्तु जगत् की ओर लपकता रहता है। ज्ञातव्य है कि मनको दी गई तनिक ढील भी कालान्तर में विशाल रूप लेकर साधक को श्रेय साधन से पतित कर सकती है। उच्चकोटिके अतुल्य दार्शनिक गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानेप्सु साधक को सजग, सतर्क एवं सचेत करने हेतु ही विचाराधीन प्रकरण में गुणों द्वारा मानवके बन्धन की प्रक्रिया का वर्णन कर रहे हैं ताकि साधक अपना

निरीक्षण एवं विश्लेषण कर सके कि किस गुण के किस लक्षण द्वारा वह बन्धनग्रस्त हुआ-हुआ है अथवा किस समय वह कौन से गुण के वश में है। निःसन्देह, गुणातीत बनने की इच्छा वाले साधक के लिये यह प्रसङ्ग विशेष रूप से उपयोगी एवं हितकारी है; क्योंकि इसके अध्ययन एवं मननोपरान्त वह गुणोंके बन्धनसे विमुक्त होनेका सत्प्रयास कर सकता है। किसी भी रोग का उपचार करने हेतु अनिवार्य है कि पहले यह देखा जाये कि उस रोग का कारण क्या है? कारण से अवगत हो जाने पर रोग-मुक्त होना सुगम हो जाता है। गुणों द्वारा सम्भावित बन्धनका क्रम जारी है। आइये, सतोगुण के बन्धन के पश्चात् रजोगुणी बन्धन का वर्णन सर्वेश्वर भगवान्‌जीके मुखारविन्द से श्रवण करें—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

गीता – १४/७

अर्थ—हे कौन्तेय! रजोगुण को राग स्वरूप जानो; जिससे तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवात्मा को कर्मों और उनके फलों की आसक्तिके साथ बाँधता है।

जानो रजोगुण रागमय, उत्पन्न तृष्णा संग से।
वह बाँध लेता जीव को, कौन्तेय! कर्म-प्रसंग से॥

'रजोगुण राग स्वरूप है'—जी हाँ, अन्तःकरणमें जब भी रजोगुण प्रवृद्ध होता है, तब स्वतः ही मानव का आकर्षण साँसारिक वस्तुओं के प्रति बढ़ता जाता है। इसी आकर्षण से राग की उत्पत्ति होती है। जब राग हुआ तो नानाविध ऐहिक कामनायें भी स्वयमेव मन में उठने लगती हैं। कारण, कि जो वस्तु अच्छी लगी, सुखदायी लगी, मन जिसके साथ आसक्त हुआ, उसे प्राप्त भी वह अवश्य करना चाहेगा। गीतोक्त भगवद्-वचन इसी तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं —

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

गीता - २/६२

—अर्थात्—

लगाये जो साँसारिक विषयों से मन,
तअल्लुक़ बढ़े उनसे और हो लग्न।

इसी क्रम में आगे—

सङ्गात्संजायते कामः

—अर्थात्—

तअल्लुक़ से ख़्वाहिश का हो फिर जहूर।

यहाँ एक शङ्का की जाती है कि क्या कामना और आसक्ति रजोगुण से उत्पन्न होते हैं या रजोगुण इनसे उत्पन्न होता है? इनका सम्बन्ध बीज और वृक्ष की

भाँति है अर्थात् ये अन्योन्याश्रित हैं। बीज वृक्षसे उत्पन्न होता है तथापि बीज ही वृक्ष का कारण भी है। इसी प्रकार रजोगुण रूपी बीज से तृष्णा और आसक्ति रूप वृक्ष उत्पन्न होता है तथा तृष्णा और आसक्ति रूप वृक्ष से रजोगुणरूपी बीज की उत्पत्ति होती है। जितनी अधिक मानव विविध प्राणी-पदार्थों के साथ आसक्ति बढ़ायेगा, उतनी ही अधिक उन वस्तुओं को अर्जित करनेकी कामनायें भी पनपती जायेंगी, जो जीव को नानाविध कर्म करने, संघर्षरत होने एवं वस्तुओं के अर्जन एवं रक्षण हेतु दिन रात कर्मों में व्यस्त रहने के लिये बाध्य कर देंगी। बस, यहीं से रजोगुण का बन्धन प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि रजोगुण के वशीभूत होकर वह जो भी कर्म करेगा, उसकी पृष्ठभूमि में कोई-न-कोई इच्छा अवश्य होगी। फलेच्छा रखकर किया गया कोई भी कर्म अन्तःकरण पर संस्कारों के चिह्न अंकित किये बिना नहीं रहता। जब संस्कार होंगे, तो विचारों का आविर्भूत होना भी अनिवार्य है और जबतक विचारों का ताँता मन में लगा रहेगा, तबतक जीव को पुनः बलात् से कर्मों में प्रवृत्त होना पड़ेगा। क्या यह कर्मचक्र यहीं समाप्त हो जायेगा ? कथमपि नहीं। कर्मों में निहित फलाशा जीव को इतनी बुरी तरह कर्मासक्त बना देती है कि पुनः पुनः वह कर्मोंकी चक्की पीसता रहता

है जबकि कर्म प्रत्येक बार उसके अन्तःकरण पर संस्कारों की छाप छोड़ जाते हैं। यही संस्कार जीवके पुनः पुनः जन्म और मरणका कारण बन जाते हैं। गीताचार्य इस विषय के स्पष्टीकरण में लिखते हैं 'रजोगुण के वशीभूत पुरुष के मन में विभिन्न इच्छायें उत्पन्न होती हैं, जिन्हें पूर्ण करने के लिये स्वाभाविक है कि वह दिन रात कर्म में ही व्यस्त और आसक्त हो जाता है। उसका सम्पूर्ण जीवन धन के आय और व्यय, वस्तुओं के अर्जन और रक्षण करने में ही व्यतीत होता है। इस प्रक्रिया में उसका शरीर तो वृद्ध होता जाता है परन्तु उसकी तृष्णा नवयौवन को प्राप्त होती जाती है। अधिकाधिक भोग को प्राप्त करने की व्याकुलता और प्राप्त वस्तु के नष्ट होने के भय के कारण वह एक कर्म से दूसरे कर्म में प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार अपने ही कर्मों से उत्पन्न हुए सुख-दुःख रूप फलोंको भोगने के लिये वह जीव सदैव देह से बँधा रहता है।'

लीजिये, अब प्रस्तुत है तमोगुण का स्वरूप और उस द्वारा सम्भावित जीवात्माको बन्धायमान करनेकी प्रक्रिया—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

गीता—१४/८

अर्थ—हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियों को मोहित करने

वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। यह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव जो मोहित करे।
आलस्य नींद प्रमाद से यह जीव को बंधित करे॥

तमोगुण के प्रभाव से जीव की सत्य-असत्य, उचित-अनुचित और कर्तव्य-अकर्तव्य प्रभृति में भेद करनेवाली विवेकिनी बुद्धि आवरणाच्छादित हो जाती है, जिससे वह संसार के असत्य एवं असुखकारी प्राणी-पदार्थों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है अथवा इस प्रकार कह लो कि उन्हीं में मोहित होकर रह जाता है—इससे आगे भी कुछ है या मानव-जीवन का कुछ और भी ध्येय है—इस बात से वह नितान्त अनभिज्ञ होता है! श्री भगवान्‌जीने भी पुष्टि करते हुए कहा है-

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

गीता—५/१५

—अर्थात्—

अज्ञानता ने सब ज्ञान छिपाया।
मोह में जीवों को भरमाया॥

बस, यही तमोगुण का सब जीवों को मोहित करना है जबकि यह अज्ञानता के आवरणों द्वारा ज्ञान को

आच्छादित कर देता है। जब ज्ञान नहीं रहा, तब मानव बिना ब्रेक पशुवत् आचरण करता हुआ अपने कर्तव्य कर्म से सर्वथा पराङ्मुख हो जाता है।

तमोगुण कैसे जीवात्मा को बन्धन में डालता है ?–प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा। प्रमाद का अर्थ गीता-रहस्यकारों ने दो प्रकार से लिया है। करने योग्य अर्थात् शास्त्र-विहित कर्मों को न करना तथा न करने योग्य अर्थात् शास्त्र-निषिद्ध कर्मों में रुचि दिखाना। तमोगुण की वृद्धि पर होता भी यही है। सर्वेश्वर परमात्माकी पहचान करना मानव का सर्वप्रथम एवं सर्वप्रधान कर्तव्य है जबकि तमोगुणी जीव परमात्मा की पहचान करना तो दूर की बात, उनके लिये कुछ समय लगाना भी व्यर्थ समझता है। दूसरी ओर मद्यपान, माँसाहार, ताश-चौपड़ खेलना, सिनेमा देखना, प्रभृति कर्म जो शास्त्रों द्वारा सर्वथा त्याज्य बतलाये गये हैं—उनमें उसकी प्रबलासक्ति होती है।

—क्रमशः

REGD No.
सत्संग भवन अम्बाला नगर-7